साहित्यिक ग्रन्थमाला संख्या ३

हिन्दी-काव्य की कोकिलाएँ

[हिन्दी की स्त्री-कवियों का साहित्यिक परिचय
और उनकी मनोमोहक कविताओं का
आलोचनात्मक चयन]

लेखक

श्रीयुत गिरिजादत्त शुक्ल, बी० ए०

श्रीयुत ब्रजभूषण शुक्ल, विशारद

प्रकाशक

साहित्य-मन्दिर

दारागंज, प्रयाग

प्रथम बार } १९३३ { मूल्य २)

प्रकाशक
भगवतीप्रसाद वाजपेयी
मालिक, साहित्य-मन्दिर,
दारागंज, प्रयाग।



मुद्रक
भगवतीप्रसाद वाजपेयी
साहित्य-भूषण प्रेस,
दारागंज, प्रयाग

प्राक्कथन

हिन्दी-साहित्य के स्वरूप-निर्माण में हमारी देवियों ने जो भाग लिया है, उसकी ओर हिन्दी के समालोचकों का ध्यान अभी विशेष रूप से नहीं आकृष्ट हुआ था। इस ग्रंथ के लेखकों ने इस अभाव की पूर्त्ति का उद्योग किया है, यह संतोष की बात है।

प्रस्तुत आलोचनात्मक संग्रह में जिस शैली का अनुसरण किया गया है वह कवयित्रियों की रचनाओं के अध्ययन में विशेष सहायक होगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, हिन्दी के पुरुष कवियों की कविताओं का भी ऐसा कोई आलोचनात्मक संग्रह नहीं है, जिसमें किसी प्रकार के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया हो, अथवा उनकी कविताओं की प्रवृत्तियों की आलोचना की गयी हो। ऐसी दशा में यह आलोचनात्मक संग्रह न केवल स्त्री-कवियों के एक आलोचनात्मक काव्य-संग्रह के अभाव की पूर्त्ति करेगा, वरन् पुरुष-कवियों के काव्य-संग्रह-प्रणयन के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक का काम करेगा। आलोचना में जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे सप्रमाण हैं; भाषा संयत और गम्भीर है। एक बहुत बड़ी विशेषता, जिसने मेरा ध्यान आकृष्ट किया है, यह है कि प्राचीन कवयित्रियों की त्रुटियों की जानकारी से जहाँ नवीन कवयित्रियों

को काव्य-त्रुटियों का व्यापक रूप से ज्ञान होगा, वहाँ अपने गुण-दोषों के भी सहृदयतापूर्ण संकेत से वे अपनी रचनाओं की दिशा में आवश्यकतानुसार संशोधन कर सकेंगी।

अंत में इस पुस्तक के लेखकों को, ऐसी सुन्दर पुस्तक के प्रणयन के लिए, मैं बधाई देता हूँ।

२६-८-३३ कृष्णकान्त मालवीय

समर्पण

—o:–:o—

श्रीमती चन्दाबाई जैन की सेवा में—

श्रीमती जी;

आप के आदर्श चरित्र, लोक-सेवानुराग और आत्मत्याग ने हमारे हृदय में जो श्रद्धा-भाव उत्पन्न किया है उसके फल-स्वरूप हमारी यह क्षुद्र भेंट श्रीचरणों में स्वीकार कीजिए।

भवदीय कृपाभिलाषी—

गिरिजादत्त शुक्ल

ब्रजभूषण शुक्ल

निवेदन

अपनी देवियों की कविताओं के इस आलोचनात्मक संग्रह को पाठकों के कर-कमलों में प्रस्तुत करने का प्रधान उद्देश्य यह है कि उनकी प्रतिभा और कला-रसिकता के सम्बन्ध में हिन्दी-प्रेमियों का ज्ञान अधिक विस्तृत हो सके। इस ग्रंथ में यत्र-तत्र तथ्य बातों के निवेदन में स्पष्टता से काम लेना पड़ा है; परन्तु पाठक-पाठिकाएँ विश्वास रक्खें कि वह कठोर कर्त्तव्य की प्रेरणा से ही सम्भव हुआ है। वास्तव में सम्पूर्ण पुस्तक का अवलोकन करने पर यह बात हृदयंगम हुए बिना नहीं रहेगी कि हमने अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं किया है।

हमने इस बात ध्यान रक्खा है कि हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में क्रियाशील तथा प्रसिद्धि-प्राप्त प्रत्येक वर्त्तमान-कालीन देवी की रचना का नमूना भी पाठकों के सम्मुख आ जाय। इस उद्योग में हमने विशेष रूप से पत्र-पत्रिकाओं से सहायता ली है। अनेक संदेह-जनक बातों के स्पष्टीकरण के लिए लेखिकाओं से हमने पत्र-व्यवहार भी किया है, और यदि संभव हो सका है तो, स्वयं मिलकर भी जानकारी प्राप्त की है। इतना श्रम करने पर भी भ्रम और प्रमाद की आशंका से हम अपने हृदय को मुक्त

नहीं कर सकते। यदि हमारे पाठक कुछ अन्य देवियों की रचनाओं से हमें सूचित करेंगे, तो उनकी कृपा के लिए हम आभारी होंगे और अगले संस्करण में अवश्य ही उनकी सहायता का उपयोग करके उचित संशोधन और परिवर्द्धन करेंगे।

दारागंज,
प्रयाग

गिरिजादत्त शुक्ल
ब्रजभूषण शुक्ल

विषय-सूची



विषय

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

तृतीय भाग

॥ चिह्नित देवियों के चित्र भी दिये गये हैं।

हिन्दी-काव्य की कोकिलाएँ

प्रथम भाग

मीराँ   

प्रकृति ने पुरुषों को प्रखर और स्त्रियों को कोमल व्यक्तित्व प्रदान करके उत्पन्न किया है। इसी कारण शासन, युद्ध और राजनीति के अधिकांश कार्य्य पुरुषों द्वाराही सुचारु रूप से सम्पन्न होते हैं; यद्यपि इन कार्यों में स्त्रियों ने भी यथेष्ट भाग लिया है। इसी प्रकार प्यार, दया, क्षमा, शान्ति, कष्ट-सहन, त्याग आदि भावों को नारी माँ के गर्भ में ही धारणकर जन्म ग्रहण करती है; यद्यपि यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुरुषों में भी इन भावों का प्राचुर्य्य देखा गया है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि, यदि पुरुष और नारी को अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए उचित अवसर दिया जाय तो, पुरुष शासन और राजनीति तथा नारी कला की सेवा में सहज ही सफल हो सकती है। किन्तु जहाँ इस बात की सत्यता प्राय: असंदिग्ध है, वहाँ यह भी सच है कि नारी ने कला की सेवा में अपने आप को उतना दत्त-चित्त नहीं बनाया है जितना उसे बनाना चाहिए था। अवश्य ही इस त्रुटि

का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व नारी पर ही नहीं है; प्रकृति ने जहाँ उसे कला की सेवा के उपयुक्त सुकुमार हृदय प्रदान किया है वहाँ मातृ-धर्म्म-पालन का भार भी उसके कंधों पर डाला है। इस भार-वहन के अतिरिक्त नारी संघर्ष-व्यस्त जीवन-यात्रा में अपने आप को पुरुषों द्वारा निर्मित वातावरण के अनुकूल बनाने के लिए विवश है। इन दो बातों ने सभी कालों और सभी देशों में नारी की कला-सेवा पर प्रभाव डाला है।

हमारे प्राचीन आर्य्य ऋषि, जिनकी वाणी से संसार को ज्ञान की प्रथम उपलब्धि हुई, जीवन के बड़े मार्मिक समीक्षक थे। उन्होंने नारी और पुरुष के अन्योन्य सम्बन्ध को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान कर के समाज में नारी का बहुत ऊँचा और सम्मानित स्थान स्वीकार किया था; नन्हीं सी बालिका हो, मुग्धा कुमारिका हो, अथवा वृद्धा तरुणी—पत्नी के अतिरिक्त उनकी दृष्टि में सभी माता थीं। वे समाज को उस ऊँचे शिखर पर आरूढ़ रखना चाहते थे, जहाँ काम-वासना की विषम वृद्धि नारी और पुरुष के स्वतंत्रतापूर्ण मिलन को रुग्ण, विपज्जनक और क्रमशः असम्भव नहीं बना देती। प्रमाद, और स्खलन तो मानव-प्रकृति ही के साथ संलग्न है; ऋषियों-द्वारा व्यवस्थित समाज में भी उनके अस्तित्व का लोप नहीं हो सकता था। किन्तु, अपराध करके भी उस काल में अपने को निरपराध घोषित करने की, समल होकर भी अपनी निर्मलता सिद्ध करने की प्रवृत्ति नहीं थी; सभी की दृष्टि सत्य की ओर रहती थी; सदाचार की आराधना की जाती थी। ऐसी ही सुव्य-

वस्था में वैदिक मन्त्रों के आविष्कार में ऋषियों को देवियों का भी सहयोग मिल सका था।

आर्य्य संस्कृति से स्पर्धा कराने वाली बौद्ध संस्कृति ने समाज में नारी का स्थान तो उतना ही ऊँचा रक्खा, किन्तु उसने अनेक मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की उपेक्षा करके मानव-हृदय को ऐसे सँकरे रास्ते से चलने के लिए विवश किया जो आगे चलकर संकट-जनक हो गया। विहारों में पुरुषों के साथ नारियों का प्रवेश स्वीकार करते समय महात्मा बुद्ध ने विकसित मानवता की ज्ञान-पिपासा का ख़याल शायद अधिक और उसकी अनिवार्य्य दुर्बलता की कल्पना कम की। जो हो, भिक्षुओं और भिक्षुनियों का अवाध, अमर्य्यादित मिलन अनाचार का जनक हो गया। इस परिस्थिति ने जो प्रतिक्रिया उत्पन्न की उसने नारी और पुरुष के सामाजिक मिलन और पारस्परिक सहयोग के पथ को कंटकाकीर्ण कर दिया।

स्वामी शंकराचार्य्य ने एक बार फिर आर्य्य-संस्कृति का डंका भारतवर्ष में बजा दिया। लेकिन मुसलमानों के इस देश में प्रवेश करने के कारण क्रमशः राजनैतिक परिस्थिति ऐसी बिगड़ चली थी कि उनके कार्य्य में स्थिरता और सुदीर्घ काल-व्यापी सुव्यवस्था का संचार नहीं हो सका। मुसलमानों के आक्रमणों द्वारा प्रस्तुत की जानेवाली अड़चन के साथ-साथ बौद्ध धर्म्म के ह्रास के समय तथा उसके बाद भी मानव-प्रकृति पर उसके अस्वाभाविक नियंत्रण के विरुद्ध जो प्रबल प्रतिक्रिया समाज के सम्मुख

उपस्थित हुई उसने शृंगार-रस को छोड़कर अन्य कोई काव्य-विषय कवियों के सम्मुख रहने नहीं दिया। चाहे पाली के कवियों को लीजिए, चाहे अपभ्रंश और संस्कृत के कवियों को देखिए—इस काल अथवा इसके लगभग के प्रायः सभी कवियों के काव्य में उन्मुक्त हृदय से शृंगार-रस की आराधना मिलेगी। महाराज हर्षवर्द्धन के देहावसान के बाद कोई ऐसा चक्रवर्ती भूपाल नहीं हुआ जो स्वामी शंकराचार्य के किये हुए कार्य को अपनी राजशक्ति की धुरी पर स्थापित कर सकता। भारतवर्ष से वीरता उठ गयी हो, सो बात नहीं; पृथ्वीराज और उनके अनेक सामन्तों की शूरता तथा आल्हा-ऊदल आदि का अपार पौरुष संसार की किसी भी जाति का मुख उज्वल कर सकता है। किन्तु इनमें त्रुटि यह थी कि इन्होंने आर्य-सम्कृति के मूल तत्त्व को नहीं समझा और इसी कारण उसका लोप करनेवाले प्रवाह को रोकने के स्थान में ये उसका बल बढ़ाने ही में सयत्न हो गये। विलासिता के नशे में मतवाले होकर इन हिन्दू नरेशों ने नित्य नूतन सुन्दरियों की खोज में अपने सहस्रों, लाखों प्रिय योद्धाओं के प्राणों को कुछ नहीं समझा; इस विलासिता का मूल्य भी इन्हें राज्य गँवाकर देना पड़ा। फलतः हमारे समाज में नारी और पुरुष के सामाजिक सम्बन्धों का खोया हुआ सामञ्जस्य फिर से स्थापित नहीं किया जा सका; यही नहीं दोनों के बीच की दूरी और भी बढ़ गयी।

पुरुष और नारी के अन्योन्य सम्बन्ध का धरातल बहुत अधिक नीचा हो जाने के कारण, साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी दोनों

के सार्वजनिक सम्मिलन का कोई निरापद अवलम्ब नहीं रह गया था। फिर युद्ध और अशान्ति के उस प्रतिकूल वातावरण में, जब जीवन और प्रतिष्ठा की रक्षा का प्रयत्न ही हिन्दुओं की सम्पूर्ण शक्तियों का तक़ाजा करता था, देवियों की साहित्य-सेवा का सुमन एकान्त में भी प्रफुल्ल नहीं हो सकता था। हाँ, उस समय में भी आर्य्यधर्म्म का जितना भाव समाज में प्रचलित था उसकी रक्षा के लिए देवियों ने आत्मोत्सर्ग द्वारा, समय पड़ने पर समर-स्थली में अपने स्वजनों का साथ देते हुए तथा कभी-कभी स्वयं ही सेनानेत्री का पद धारण करके उस वीरता और धीरता का परिचय दिया, जो कलात्मक सृष्टियों का उपयुक्त विषय हो सकता है।

प्रकृति में संहार और निर्म्माण की प्रवृत्तियाँ निरन्तर कार्य्य करती रहती हैं। जब हिन्दू अपनी असंगठित अवस्था के कारण मुसलमानों के पाँव न उखाड़ सके तभी यह स्पष्ट हो गया कि आर्य्य-संस्कृति को एक विदेशी और अत्यन्त अधिक आवेशपूर्ण तत्त्व का सामना करना पड़ेगा। राजशक्ति के अवलम्ब से शून्य आर्य्य-संस्कृति असमर्थ हाथों में पड़कर समाज की दृष्टि से दूर होने लगी। किन्तु उसकी आकाश की तरह विस्तृत परिधि विदेशियों के एकदेशीय तत्त्वों को आत्मसात् करने में शीघ्र ही अग्रसर हुई। मुसलमानों के एकेश्वरवाद का उत्तर उसने वेदान्त के ब्रह्मवाद के रूप में दिया और इन्हीं दोनों का सामञ्जस्य महात्मा कबीरदास ने प्रस्तुत किया।

अनेक सहस्रों वर्ष पूर्व्व के आर्य्यों और महात्मा कबीरदास

के कार्य्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होने तक के समय में हमारी भाषा के न जाने कितने उलट-फेर हुए। इस उलट-फेर की चर्चा में प्रवृत्त होने के लिए यहाँ उपयुक्त स्थान नहीं। इतना ही कहना उचित होगा कि महात्मा कबीरदास के समय में आकर विक्रम की सातवीं शताब्दी ही से विकासोन्मुख हिन्दी-भाषा काव्य-भाषा का स्थान ग्रहण करने के सर्वथा योग्य हो गयी थी। कबीर के समय में मुसलमानों के राज्य की नींव भी सुदृढ़ हो चली थी; और दैनिक सम्पर्क की वृद्धि के कारण हिन्दू तथा मुसलमान संस्कृति के एकाकार का श्रीगणेश हो गया था।

कबीर का एकेश्वरवाद हिन्दू जनता को कुछ समय तक भले ही रुचा हो, किन्तु कालान्तर में उसके प्रति उसको अरुचि हो गयी। कबीर रामानन्द के शिष्य और वैष्णव थे। उन्होंने अपनी कविताओं में राम का गुणगान करने का प्रयत्न किया था, किन्तु वह राम अनन्त था, अपरिमित था और इसी कारण जन-साधारण की बुद्धि-शक्ति से परे हो जाता था। ऐसी स्थिति में इस निराकार-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया अनिवार्य्य थी।

बौद्धधर्म्म का तो विक्रम की सातवीं शताब्दी में प्रायः लोप हो गया था, किन्तु उसने समाज के हृदय में धार्म्मिक भावना का, विराग का, सांसारिक कार्य्यों के प्रति उदासीनता का कुछ ऐसा संस्कार छोड़ दिया था, जो विपरीत परिस्थितियों में भी किसी न किसी रूप में व्यक्त होने के लिए अधीर था। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग भारतवर्ष में किसी

सम्राट् का अस्तित्व तो नहीं था, किन्तु समाज की समस्त व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करनेवाले भयंकर आक्रमणों का अन्त हो गया था और दिल्ली के राजसिंहासन के लिए भले ही दो पक्षों के बीच में कलह और उनके मन में अशान्ति बनी रही हो, किन्तु जन-साधारण अपनी धार्मिक अभिरुचि के अनुकूल संतों और महात्माओं के ज्ञानोपदेश का प्यासा था। ऐसे ही समय में मीराँ—हिन्दू जाति ही नहीं, स्त्री-जाति की रत्न-स्वरूपा मीराँ—हिन्दी-काव्याकाश में पीयूष-वर्षिणी चन्द्रकला की तरह उदित हुई।

यह देवी जोधपुर के राणा राठौर रतनसिंह की कन्या और उदयपुर के महाराणाकुमार भोज की पत्नी थी। रैदास नामक महात्मा की शिष्या होकर इन्होंने भगवद्भजन की ओर अपना चित्त लगाया और बहुत दिनों के बाद प्राचीन आर्य्य-विदुषियों की भाँति आपने परम तत्व का निरूपण सरल भाषा में, काव्य के रूप में, प्रस्तुत किया। समाज में नारी की तत्कालीन स्थिति ऐसी नहीं थी कि राजकुल की कोई महिला नीच वंश में उत्पन्न किसी साधु की शिष्यता ग्रहण करे, अथवा अन्य महात्माओं की मंडली में स्वतंत्रता से विचरण कर सके। इस स्थिति ने मीराँबाई को अपने कुटुम्बियों के हाथों अनेक कष्ट पाने के लिए विवश किया, किन्तु इस महान् आत्मावाली नारी ने परिस्थितियों के आवरण को भेदकर अपने आराध्यदेव सत्यनारायण का दर्शन किया, जिनका दर्शन करने पर निस्सन्देह ही राणा के यहाँ से मीराँ का जीवनान्त करने के लिए आया हुआ विष का

प्याला अमृत का कटोरा हो गया होगा।

मीराँ ने कबीरदास की निराकारोपासना को तो नहीं स्वीकार किया; वह कोरा वेदान्त मीराँ के नारी-हृदय को रुचिकर न लगा होगा। उनको प्रियतम के रूप में सगुण ब्रह्म की उपासना विशेष पसंद आयी और श्रीकृष्ण को उन्होंने अपना उपास्यदेव बनाया। मीराँ के पहले संस्कृत में गीतगोविंदकार जयदेव और हिन्दी में विद्यापति आदि कवि कृष्ण-काव्य कर चुके थे। किन्तु इन दोनों महाकवियों ने राधा और कृष्ण के अनन्त स्वरूप का उसके इहलौकिक दैनिक जीवन में व्यक्त स्वरूप के साथ सामञ्जस्य करने का कोई उद्योग नहीं किया। मीराँबाई में यह बात नहीं। वे वास्तव में परमतत्व की खोज में रहीं और सगुण उपासना को उन्होंने साध्य न बनाकर साधन बनाया था। निम्न-लिखित पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि मीराँ ने उस परमात्मा का कीर्त्तिगान किया है जिसका कहीं ओर-छोर नहीं—

(१)

भजि मन चरण कमल अविनासी ॥ टेक ॥
जे ताइ दीसे धरनि गगन बिच, ते ताइ सब उठि जासी ॥१॥
कहा भयो तीरथ व्रत कीने, कहा लिए करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना, माटी में मिलि जासी ॥२॥
या संसार चहर की बाजी, साँझ पड्याँ उठ जासी ॥३॥
कहा भयो है भगवा पहन्याँ, घर तज भये सन्यासी ॥

जोगी होय जुगति नहिं जानी, उलट जनम फिर आसी ॥४॥
अरज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी ॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी ॥५॥

(२)

जग में जीवणा थोड़ा, राम कुण कहरे जंजार ॥
मात पिता तो जन्म दियो है, करम दियो करतार ॥
कइरे खाइयो कइरे खरचियो, कइरे कियो उपकार ॥
दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी लार ॥
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार ॥

(३)

स्वामी सब संसार के हो साँचे श्रीभगवान ।
स्थावर जंगम पावक पाणी, धरती बीच समान ।
सब में महिमा तेरी देखी, कुदरत के कुरबान ॥
सुदामा के दारिद्र खोये, बारे की पहिचान ।
दो मुट्ठी तंदुल की चाबी, दीन्हा द्रव्य महान ॥
भारत में अर्जुन के आगे, आप भये रथवान ।
उनने अपने कुल को देखा, छूट गये तीर कमान ॥
न कोई मारे न कोई मरता, तेरा यह अज्ञान ।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान ॥
मुझ पर तो प्रभु किरपा कीजै, बन्दी अपनी जान ।
मीराँ गिरधर सरण तिहारी, लगै चरण में ध्यान ॥

प्याला अमृत का कटोरा हो गया होगा।

मीराँ ने कबीरदास की निराकारोपासना को तो नहीं स्वीकार किया; वह कोरा वेदान्त मीराँ के नारी-हृदय को रुचिकर न लगा होगा। उनको प्रियतम के रूप में सगुण ब्रह्म की उपासना विशेष पसंद आयी और श्रीकृष्ण को उन्होंने अपना उपास्यदेव बनाया। मीराँ के पहले संस्कृत में गीतगोविंदकार जयदेव और हिन्दी में विद्यापति आदि कवि कृष्ण-काव्य कर चुके थे। किन्तु इन दोनों महाकवियों ने राधा और कृष्ण के अनन्त स्वरूप का उसके इहलौकिक दैनिक जीवन में व्यक्त स्वरूप के साथ सामञ्जस्य करने का कोई उद्योग नहीं किया। मीराँबाई में यह बात नहीं। वे वास्तव में परमतत्त्व की खोज में रहीं और सगुण उपासना को उन्होंने साध्य न बनाकर साधन बनाया था। निम्न-लिखित पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि मीराँ ने उस परमात्मा का कीर्त्तिगान किया है जिसका कहीं ओर-छोर नहीं—

(१)

भजि मन चरण कमल अविनासी ॥ टेक ॥
जे ताइ दीसे धरनि गगन बिच, ते ताइ सब उठि जासी ॥१॥
कहा भयो तीरथ ब्रत कीने, कहा लिए करवत कासी ॥
इस देही का गरब न करना, माटी में मिलि जासी ॥२॥
या संसार चहर की बाजी, साँझ पड़याँ उठ जासी ॥३॥
कहा भयो है भगवा पहर्‌याँ, घर तज भये सन्यासी ॥

जोगी होय जुगति नहिं जानी, उलट जनम फिर आसी ॥४॥
अरज करौं अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी ॥
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फाँसी ॥५॥

(२)

जग में जीवणा थोड़ा, राम कुण करे जंजार ॥
मात पिता तो जन्म दियो है, करम दियो करतार ॥
कइरे खाइयो कइरे खरचियो, कइरे कियो उपकार ॥
दिया लिया तेरे संग चलेगा, और नहीं तेरी लार ॥
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, भज उतरो भवपार ॥

(३)

स्वामी सब संसार के हो साँचे श्रीभगवान ।
स्थावर जंगम पावक पाणी, धरती बीच समान ।
सब में महिमा तेरी देखी, कुदरत के कुरबान ॥
सुदामा के दारिद्र खोये, बारे की पहिचान ।
दो मुट्ठी तंदुल की चाबी, दीन्हा द्रव्य महान ॥
भारत में अर्जुन के आगे, आप भये रथवान ।
उनने अपने कुल को देखा, छूट गये तीर कमान ॥
न कोई मारे न कोई मरता, तेरा यह अज्ञान ।
चेतन जीव तो अजर अमर है, यह गीता को ज्ञान ॥
मुझ पर तो प्रभु किरपा कीजै, बन्दी अपनी जान ।
मीरां गिरधर सरण तिहारी, लगै चरण में ध्यान ॥

(४)

पायो जी, मैंने नाम रतन धन पायो ।
वस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु, किरपा कर अपनायो ।
जनम जनम की पूँजी पाई, जग में सभी खोवायो ।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवे, दिन दिन बढ़त सवायो ।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो ।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो ।

इन पंक्तियों में मीराँ ने अपने प्रभु गिरधर नागर के अविनाशी चरण-कमलों का भजन करने की अपने मन में प्रेरणा की है। अपने प्राणवल्लभ के अनन्त, अग्राह्य रूप की धारणा करने के लिए ही उन्होंने मानव रूप में उनकी कल्पना की है। इस मनोहर स्वरूप का वर्णन वे इस प्रकार करती हैं :—

"मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥
कुंडल की झलकन कपोलन पै छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥
कुटिल भृकुटि तिलकभाल चितवनि में टौना ।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना ॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धरे रूप अति विसेखा ॥
अधर बिंब अरुन नैन मधुर मंद हांसी ।

दसन दमक दाड़िम दुति चमके चपला-सी ॥
छुद्र घंट किंकिनी अनूप धुनि सुहाई।
गिरधर के अङ्ग-अङ्ग मीरा बलि जाई॥"

संस्कृत-साहित्य में नायिका-भेद का विस्तार तो बहुत है, लेकिन उसे मीराँबाई ऐसी किसी नारी-कवि को प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं मिल सका। मीराँबाई ने न केवल हिन्दी-साहित्य में यह अभाव नहीं आने दिया, बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी के उन कवियों के सम्मुख परकीया नायिका का सर्वोच्च आदर्श उपस्थित किया, जो नारी को विलास-सामग्री के रूप में अंकित करने के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में उसकी कल्पना ही नहीं कर सकते थे। जिस 'गिरिधर नागर' का चित्रण उक्त पंक्तियों में किया गया है, उसे निष्ठुर, पर प्रेमासक्त नायक के रूप में कल्पित करके उन्होंने बहुत ही भावपूर्ण पंक्तियाँ लिखी हैं। उन्हें पाठक देखें—

(१)

श्याम म्हासूँ ऐंडो डोले हो॥
औरन सूँ खेले धमार, म्यासूँ मुखहूँ न बोलें हो॥ श्या० ॥१॥
म्हाँरी गलियां न फिरे, वाके आंगण डोले हो॥ श्या० ॥२॥
म्हाँरी आंगुली न छुवे, वाकी बहियां मोरे हो॥ श्या० ॥३॥
म्योरो अँचरा न छुवे, वाको घूँघट खोले हो॥ श्या० ॥४॥
मीराँ के प्रभु सांवरो, रंग रसिया डोले हो॥ श्या० ॥५॥

(२)

मैं विरहिन बैठी जागूँ. जगत सब सोवै री आली ॥ टेक ॥
विरहिन बैठी रंगमहल में, मोतिन की लड़ पोवै ।
इक विरहिन हम ऐसी देखी अँसुवन (की) माला पोवै ॥ १ ॥
तारा गिण-गिण रैण बिहानी, सुख की घड़ी कब आवै ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, मिल के बिछुड़ न जावै । २ ॥

(३)

घड़ी एक नहिं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय ॥
धान न भावै नींद न आवै, बिरह सतावै मोय ।
घायल-सी घूमत फिरूं रे, मेरा दरद न जाणे कोय ॥
दिवस तो खाय गमायो रे, रैण गमाई सोय ।
प्राण गमायो झूरता रे, नैण गमाई रोय ॥
जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीति किये दुख होय ।
नगर ढंढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय ॥
पंथ निहारूँ, डगर बुहारूं, ऊबी मारग जोय ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय ॥

(४)

हेरी मैं तो प्रेम दिवाणी, मेरा दरद न जाणे कोय ।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोणा होय ॥

गगन मँडल में सेज पिया की किस विध मिलणा होय ।
घायल की गति घायल जाने, की जिन लाई होय ॥
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय ।
दरद की मारी बन बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय ।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी जब बैद सँवलिया होय ॥

(५)

वंसीवारो आयो म्हारे देस थाँरी साँवरी सुरतवाली बैस ।
आऊं जाऊं कर गया साँवरा कर गया कौल अनेक ।
गिणते गिणते घिस गईं उंगली, घिस गई उंगली की रेख ॥
मैं बैरागिणि आदि की थाँरे म्हारे कद को सनेस ।
बिन पाणी बिन साबुन साँवरा हुइ गइ धुई सपेद ॥
जोगिण हुई जंगल सब हेरूँ तेरा नाम न पाया भेस ।
तेरी सुरत के कारणे धर लिया भगवा भेस ॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै घूँघरवाला केस ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर मिल गये दूना बढ़ा सनेस ॥

(६)

रमैया मैं तो थारे रँगराती ।
औरों के पिया परदेस बसत हैं, लिख-लिख भेजें पाती ।
मेरा पिया मेरे हृदे बसत है, गूँज करूँ दिन राती ॥
चूवा चोला पहिर सखीरी, मैं झुरमुट रमवा जाती ।
झुरमुट में मोहि मोहन मिलिया, खोल मिलूं गलबाटी ॥

और सखी मद पी पी मातो, मैं बिना पीयाँ मदमाती।
प्रेम मठो को मैं मद पीयो छकी फिरूँ दिनराती॥

(७)

राम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ वाटड़ियाँ।
दरसण बिन मोहि पल न सुहावै, कल न पड़त है आँखड़ियाँ॥
तलफ तलफ के बहु दिन बीते, पड़ी बिरह की फाँसड़ियाँ।
अब तो बेगि दया कर साहिब, मैं हूँ तेरी दासड़ियाँ॥
नैण दुखी दरसण को तरसे, नाभ न बैठे साँसड़ियाँ।
रात दिवस यह आरत मेरे, कब हरि राखे पासड़ियाँ॥
लगी लगन छूटण की नाहीं, अब क्यों कीजै आटड़ियाँ।
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर, पूरै मन की आसड़ियाँ॥

(८)

नातो नाम को मोसूँ तनक न तोड़यो जाय।
पाना ज्यों पीली पड़ी रे लोग कहैं पिंड रोग।
छाने लाँघन मैं किया रे राम मिलण के जोग॥
बावल बैद बुलाइया रे पकड़ दिखाई म्हांरी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जानै करक कलेजे माँह॥
जाओ बैद घर आपने रे म्हाँरो नाँव न लेय।
मैं तो दाधी बिरह की रे काहे कूँ औखद देय॥
माँस गलि गलि छीजिया रे करक रह्यो गल माँहि।
आँगुरियाँ से मूँदड़ी म्हाँरे आवनि लागी बाँहि॥

रहु रहु पापी पपीहा रे पिव को नाम न लेय।
जे कोइ बिरहिन साम्हाले तो पिव कारन जिव देय॥
खिन मन्दिर खिन आंगने रे खिन खिन ठाड़ी होय।
घायल ज्यूँ घूँमू खड़ी म्हाँरी बिथा न बूझै कोय॥
काटि करेजो मैं धरूँ रे कौआ तू ले जाय।
ज्यों देसाँ म्हाँरो पिव बसै रे वे देखत तू खाय॥
म्हाँरे नातो नाम को रे और न नातो कोय।
मीराँ व्याकुल बिरहिनी रे पिय दरसण दीजो मोय॥

ऊपर श्रीकृष्ण के प्रति मीराँ के उद्गारों को पाठक देख चुके। अब यहाँ यह समझाने का प्रयत्न किया जायगा कि मीराँ हिन्दू समाज की सब से ऊँची कोटि की परकीया नायिका है—वह परकीया नायिका जिसका किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है। हिन्दू-समाज के व्यवस्थाकार ऋषियों का कथन है कि नारी के लिए उसका पति ही परमेश्वर है। उनका यह आदेश इसलिए नहीं था कि पुरुष होने के कारण वे भी स्त्रियों पर पुरुषों की सत्ता बनी रहने देने के लिए व्यग्र थे और इस कारण स्त्रियों को बेहोश करने के लिए उन्होंने यह धार्मिक अफीम की घोंटी तैयार की। नहीं, सत्य की आराधना में अहर्निश रत होनेवाले महात्माओं के सदुद्देश्य के प्रति शंकालु होना स्वयं अपनी हानि करना है। अस्तु। उक्त सिद्धान्त पर दृष्टि रखते हुए यह पूछा जा सकता है कि मीराँबाई ने अपने घर में रहकर पति-सेवा अथवा पति-ध्यान में मग्न रहकर ईश्वर की आराधना क्यों नहीं की ? यह प्रश्न

सर्वथा उचित है, किन्तु इसके उत्तर में निवेदन यह है कि पति-परमेश्वर के प्रति अनन्य अनुराग रखना नारी के लिए साधारणतया एक ऐसा पथ है जो दाम्पत्य-जीवन और ईश्वर-प्रेम का सामञ्जस्य उपस्थित करता है। किन्तु दाम्पत्य-जीवन के दैनिक रूप के प्रति जिस नारी की अश्रद्धा हो जाय वह क्या करेगी? साधारण श्रेणी की स्त्री दाम्पत्य-जीवन की मलिनताओं के साथ समझौता कर सकती है, किन्तु मीरॉबाई की सी असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न नारी को तो यह 'स्वकीयात्व' त्यागकर 'परकीयात्व' ही ग्रहण करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। ऐसी ही परकीया नायिका की ओर लक्ष्य करके देव कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ अपने आप को धन्य समझ सकती हैं :—

कोई कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोई कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं॥
कैसो परलोक नरलोक बरलोकन मैं,
लीन्हीं मैं असोक लोक लोकन ते न्यारी हौं॥
तन जाहि मन जाहि 'देव' गुरु जन जाहि,
जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी हौं॥
बृन्दावन वारी बनवारी के मुकुट पर,
पीतपटवारी वाहि मूरत पै वारी हौं॥

मीरॉ की प्रखर आध्यात्मिक प्रतिभा ने सांसारिक बाधाओं और विघ्नों को तुच्छ समझकर किस प्रकार हरि-गुण-गान में ही अपनी सार्थकता समझी, यह उनकी निम्नलिखित दो मनोहर भजनों में देखिये:—

प्रवीणराय   

महात्मा तुलसीदास ने अपने काव्य में जिस उच्च कोटि की कला का निदर्शन किया था वह तत्कालीन समाज की उत्पत्ति नहीं थी; उनकी साधना का फल था। हाँ, कलि के वर्णन में, लम्पटों और दुर्जनों आदि के चित्रण में, निस्सन्देह, हम उनके समय के समाज की मनोवृत्तियों का चित्रण भी पा सकते हैं। यदि विद्यापति और सूर की तरह वे भी लोक-संग्रह के भावों से शून्य होते, तो उन्होंने भी समाज की तत्कालीन कुरुचि के मोहक जाल में पड़कर शायद अपनी कला में उस आंशिक नग्नता का समावेश होने दिया होता जिससे उक्त दो महाकवियों की कविता कुछ मात्रा में पीड़ित है। आध्यात्मिक क्षेत्र में, और राष्ट्र की विपन्नावस्था में राजनैतिक क्षेत्र में भी, नारी और पुरुष का सामाजिक मिलन सदैव उच्च और कल्याणकारी होता है, किन्तु जब यह मिलन उस अवस्था में होता है जब कला वासनाओं की आराधना की साधन-स्वरूपा हो गयी हो तब वह दोनों के

व्यक्तित्व को विकसित करने के स्थान में कुंठित ही कर सकता है। कला के पतन-काल में उसका गँठबंधन उक्तियों ही से होता है—वे उक्तियाँ जो सत्य के सुन्दर रूप को मनोहर बनाने की चेष्टा नहीं करतीं, भोग और विलास को अनुरंजित रूप प्रदान करने में सयत्न होती हैं। प्रवीणराय की कविता भी इसी कोटि की है।

प्रवीणराय ओड़छा के महाराजा इन्द्रजीतसिंह की वेश्या थी। वह महाराज को हृदय से प्यार करती थी। उसके इस प्यार का अनुमान करने के लिए पाठक उसकी निम्नलिखित पंक्तियों पर दृष्टिपात करें, जो उसने अकबर को सुनायी थीं और जिनका उस पर (अकबर पर) इतना प्रभाव पड़ा कि उसने उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने यहाँ से महाराज के पास भेज दिया:—

(१)

अंग अनंग तहीं कछु प्रभु सुकेहरि लंक गयन्दहिं घेरे।
भौंह कमान तहीं मृग लोचन खंजन क्यों न चुगै तिलि नेरे॥
है कच राहु तहीं उदै इंदु सुकीर के बिम्बन चोंचन मेरे।
कोऊ न काहू सों रोस करै सुडरै डर साह अकब्बर तेरे॥

(२)

बिनती रायप्रबीन की, सुनियें साह सुजान।
जूठी पतरी भखत हैं, बारी-बायस-स्वान॥

बादशाह के यहाँ जाने के पहले उसने महाराज से इस प्रकार निवेदन किया था :—

आई हौं बूझन मन्त्र तुम्हें निज स्वासन सों सिगरी मति गोई।
देह तजौं कि तजौं कुल कानि हिये न लजौं लजिहैं सब कोई॥
स्वारथ औ परमारथ को पथ चित्त विचारि कहौ तुम सोई।
जामे रहै प्रभु की प्रभुता अरु मोर पतिव्रत भंग न होई॥

कहा जाता है कि अकबर बादशाह ने प्रवीणराय को दो दोहों के एक-एक चरण देकर उनकी पूर्ति करने के लिए उससे कहा और प्रवीणराय ने भी उनकी रसीली पूर्त्तियाँ प्रस्तुत करके बादशाह को प्रसन्न कर लिया। नीचे ये दोहे दिये जाते हैं; इनमें प्रथम चरण बादशाह के और द्वितीय चरण प्रवीणराय के हैं :—

(१)

युवन चलत तिय देह ते चटक चलत किहि हेत।
मनमथ वारि मसाल को, सौंति सिहारो लेत॥

(२)

ऊँचे ह्वै सुरबस किये नीचे नर बस कीन।
अब पताल बस करन को ढरकि पयानो कीन॥

प्रवीणराय ने महाकवि केशवदास से कविता सीखी थी। महाकवि ने अपने 'कविप्रिया' नामक ग्रंथ में, जिसकी रचना भी

उन्होंने उसी के लिए की थी, कई छंद लिखे हैं। उनमें से दो छन्द पाठकों के मनोरंजनार्थ नीचे दिये जाते हैं :—

(१)

नाचति गावति पढ़ति सब सबै बजावत बीन।
तिनमें करति कबित्त इक रायप्रवीन प्रवीन॥

(२)

सुबरन बरन सु सुबरननि, रचित रुचिर रुचि लीन।
तन मन प्रगट प्रवीन मति, नवरँग रायप्रवीन।

प्रवीणराय के काव्य का विषय शृंगार रस स्पष्ट ही है। नीचे के छप्पय और दोहे से भी इसी ओर उसकी रुचि प्रकट होती है :—

(१)

कमल कोक श्रीफल मँजीर कलधोत कलश हर।
उच्च मिलन अति कठिन क्रमक-बहु स्वल्प नीलधर॥
मरकत शरवन हेम मेरु कैलाश प्रकाशन।
निशि वासर तरवारि कांस कुन्दन दृढ़ आसन॥
इमि कहि 'प्रवीन' जल थल अथक अविच भजित तिय गौरि संग।
कलि ललित उरज उलटे सलिल इंदु शीश रमि उरज ढंग॥

(२)

चिबुक कूप मद बोल तिल, बँधक अलक की डोरि।
दृग भिस्ती, हित-ललकि नित, जल-छवि भरन झकोरि॥

प्रवीणराय की नायिका-सृष्टि भी इसी दिशा की ओर संकेत करती है। निम्नलिखित कवित्तों का अवलोकन कीजिए:—

(१)

सीतल सरीर ढार, मंजन कै घन सार,
अमल अँगोछे आछे मन में सुधारिहौं।
देहौं न अलक एक लागन पलक पर,
मिलि अभिराम आछी तपन उतारिहौं।
कहत 'प्रवीणराय' आपनीन ठौर पाय,
सुन वाम नैन या बचन प्रतिपारिहौं।
जब हीं मिलेंगे मोहिं इन्द्रजीत प्रान-प्यारे,
दाहिनो नयन मूँदि तोहीं सौं निहारिहौं।

(२)

छूटी लटैं अलबेली सी चाल भरे मुखपान खरी कटि छीनी।
चोरि नकारा उघारे उरोजन मोहन हेरि रही जु प्रवीनी॥
बात निशंक कहै अति मोहि सौं मोहि सौं प्रीति निरंतर कीनी।
छांडि महानिधि लोगन की हित मेरो सो क्यों बिसरै रस-भीनो॥

(३)

कूर कुक्कुट कोटि कोठरी निवारि राखौं,
चुनि दै चिरैयन को मूँदि राखौं जलियो।

सारँग में सारंग सुनाइ के 'प्रवीन' बीना,
सारंग दै सारंग की जोति करौं थलियो ।।
बैठि परयंक पै निसंक ह्वै के अंक भरौं,
करौंगी अधर पान मैन मत मिलियो ।
मोहिं मिलैं इन्द्रजीत धीरज नरिन्द्रराय,
एहो चंद ! आज नेकु मंद गति चलियो ।।

(४)

नीकी घनी गुननारि निहारि नेवारि तऊ अँखियाँ ललचाती ।
जान अजानन जोरित दीठि बसीठि के ठौरन औरन हाती ॥
आतुरता पिय के जिय की लखि प्यारी 'प्रवीन' वहै रसमाती ।
ज्यौं ज्यौं पछू न बसाति गोपाल की त्यौं त्यौं फिरै घर में मुसकाती ।

(५)

मान कै बैठी है प्यारी 'प्रवीन' सो देखे बनै नहीं जात बनायो ।
आतुर ह्वै अति कौतुक सों उत लाल चले अति मोद बढ़ायो ॥
जोरि दोऊ कर ठाढ़े भये करि कातर नैन सों सैन बतायो ।
देखत बँदी सखा को लगी मिन हेरयो नहीं इत यों बहरायो ॥



ताज

मीराबाई ने व्यावहारिक रूप से निर्गुण उपासना का तिरस्कार कर दिया था। किन्तु सूफी मुसलमान कवियों की एक प्रेमी मंडली ने हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसने निर्गुण उपासना को रहस्यवादपूर्ण प्रबंध-काव्य के ढाँचे में ढालकर अत्यन्त रोचक रूप में प्रस्तुत किया। इन कवियों की भाषा में बहुत अधिक परिमार्जन और परिष्कार का प्रयत्न दृष्टिगोचर नहीं हुआ; ये गँवारों की सीधी-सादी भाषा में अपने भावों को जैसे बना वैसे प्रकट करके ही सन्तुष्ट रहे। यह सब होने पर भी निर्गुण उपासना की लोकप्रियता धीरे-धीरे नष्ट हो चली। निर्गुण के साथ सगुण का अटूट सम्बन्ध स्थापितकर तुलसीदास ने प्रसिद्ध 'रामचरित-मानस' में सगुण उपासना पर ही ज़ोर दिया। सूरदास तो उनसे एक कदम आगे बढ़े; उन्होंने ऊधो के श्रीमुख से निर्गुण उपासना की व्याख्या कराने के बाद गोपियों के द्वारा उसकी जो आलोचना करायी उसे सगुणोपासना के पक्ष में सूरदास ही

के भावों की अभिव्यक्ति समझिए। एक ओर स्वामी रामानन्द और उनके शिष्यों ने रामचन्द्र की उपासना का प्रचार किया और दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्य्य ने श्रीकृष्ण की उपासना का। महात्मा तुलसीदास ने स्वामी रामानन्द के भावों को, और महात्मा सूरदास ने स्वामी वल्लभाचार्य्य के संदेश को, अपने काव्य द्वारा हिन्दुओं के घर-घर में पहुँचाया। इस प्रकार वैष्णव मत के उत्थान से सूफ़ियों का ज़ोर कम हो गया और स्वयं मुसलमान कवि उसके कृष्णोपासना-मूलक रूप पर मुग्ध होकर उसे ग्रहण करने लगे। अपनी व्यापक सहानुभूति और उदारता आदि सद्गुणों के प्रभाव से हिन्दू-संस्कृति का मुस्लिम संस्कृति को आत्मसात् करने का यह पहला सफल प्रयत्न था। श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग और भक्ति हिन्दू तथा मुसलमान दोनों को उसी प्रकार आकर्षित करने लगी थी जिस प्रकार मुरलीधर की मुरली गोपिकाओं को उन्मत्त बना देती थी। दिल्ली में मुग़लों का साम्राज्य स्थापित हो चला था और एक ओर तो वहाँ राजपूत योद्धा अकबर को राज्य-संगठन में तन-मन से सहायता दे रहे थे और दूसरी ओर मुसल्मान वृन्दावन में राधिका-वल्लभ की रूप-माधुरी पर उन्मत्त होकर 'रसखान' के स्वर में स्वर मिलाकर इस प्रकार कह रहे थे:—

(१)

मानस हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन॥

पाहन हौं तौ वहै गिरि का जो धरयो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

(२)

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नन्द की गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सौं ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हू कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं।

श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी पर मत्त होनेवाले मुसलमान व्यक्तियों में एक मुसल्मान महिला भी थी। उसका नाम था ताज। खेद है, इस देवी के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों को पूरी जानकारी उपलब्ध नहीं है। ठाकुर शिवसिंह का कहना है कि इनका जन्म संवत् १६५२ में हुआ, किन्तु मुंशी देवीप्रसाद इससे सहमत नहीं; वे संवत् १७०० के लगभग इनका जन्म मानते हैं। स्व० गोविंद-गिल्लाभाई के निम्नलिखित पत्र से कुछ ज्ञातव्य बातों का पता चल सकता है:—

"ताज नाम की एक मुसलमान स्त्री-कवि करौली ग्राम में हो गई है। यह नहा-धोकर मंदिर में भगवान का नित्यप्रति दर्शन करती थी; इसके पश्चात् भोजन ग्रहण करती थी। किन्तु एक दिन वैष्णवों ने उसे विधर्मिणी समझकर मंदिर में दर्शन करने से रोक दिया। इससे ताज उस दिन उपवास करके मंदिर के आगन में ही बैठी रह गई और कृष्ण के नाम का जप करती रही। जब

रात हो गई तब ठाकुरजी स्वयं मनुष्य के रूप में भोजन का थाल लेकर ताज के पास आये और कहने लगे—तूने आज ज़रा-सा भी प्रसाद नहीं खाया, ले अब इसे खा। कल प्रातःकाल जब सब वैष्णव आवें तब उनसे कहना कि तुम लोगों ने मुझे कल ठाकुरजी का प्रसाद और दर्शन का सौख्य नहीं दिया, इससे आज रात को ठाकुरजी स्वयं मुझे प्रसाद दे गये हैं और तुम लोगों को सन्देश कह गये हैं कि ताज को परम वैष्णव समझो। इसके दर्शन और प्रसाद-ग्रहण करने में रुकावट कभी मत डालो। नहीं तो ठाकुर जी तुम लोगों से नाराज़ हो जायँगे। प्रातःकाल जब सब वैष्णव आये तो ताज ने सारी बातें उनसे कह सुनाई। ताज के सामने भोजन का थाल रक्खा देखकर वे अत्यन्त चकित हुए। वे सभी वैष्णव ताज के पैर पर गिर पड़े और क्षमा-प्रार्थना करने लगे। तब से ताज प्रतिदिन भगवान का दर्शन करके प्रसाद ग्रहण करने लगी। पहले ताज मंदिर में जाकर ठाकुरजी का दर्शन कर आती थी तब और दूसरे वैष्णव दर्शन करने जाते थे।"

"ताज कवि परम वैष्णव और महा भगवद्भक्त थीं। उन्हीं ठाकुरजी की कृपा से यह कवि हो गई। जब मैं करोली गया था, तब अनेक वैष्णवों के मुख से मैंने यह बात सुनी थी। वहीं मैंने इनकी अनेक कविताएँ भी सुनीं। उसी समय मैंने इनकी कितनी ही कविताएँ लिख भी ली थीं। ताज की दो सौ कविताएँ मेरे हाथ की लिखी हुई मेरे निजी पुस्तकालय में हैं।"

नीचे ताज की तीन कविताएँ पाठक देखें :—

(१)

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी हौं निवाज हूँ भुलानी तजे,
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं॥
श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाग ह्वै दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
हौं तो तुरकानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं॥

(२)

छैल जो छबीला सब रंग में रंगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला सब देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै, नाक मोती सेत सोहै कान,
मोहै मन कुंडल मुकुट सीस धारा है॥
दुष्ट जन मारे, संत जन रखवारे 'ताज',
चित्त हित वारे प्रेम प्रीतिकर वारा है।
नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावनवारा कृष्ण साहेब हमारा है॥

(३)

चैन नहीं मन में न मलोन सुनैन परे जल में न तई हैं।
'ताज' कहै परयंक यों बाल ज्यों चंपकी माल विलाय गई है॥
नेकु बिहाय न रैन कछू यह जान भयानक भारि भई है।
भौन पैं भानु समान सुदीपक अंगन में मानों आगि दई है॥



शेख   

तुलसीदास और सूरदास ने राम-काव्य तथा कृष्ण-काव्य को अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। यों तो इन दोनों महाकवियों में अनेक बातें एक सी थीं, साथ ही विभिन्नताएँ भी अनेक थीं; किन्तु उनकी एक विभिन्नता उल्लेख-योग्य है। तुलसीदास ने रामचन्द्र को सगुण ब्रह्म केवल कहा ही नहीं, लौकिक व्यवहारों में उन्होंने उनकी ऐसी मर्य्यादा रक्खी कि उनके आचरण पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि उन्हें संस्कृत-साहित्य के जो अनेक रामायण-ग्रंथ उपलब्ध हुए वे सब के सब रामचन्द्र का उज्ज्वल चरित्र ही अंकित करते हैं; साथ ही यह भी हो सकता है कि रामचन्द्र मर्य्यादा-पुरुषोत्तम के रूप में ग्रहण किये गये हैं। जो हो, महात्मा सूरदास ने श्रीकृष्ण का चरित्र और चित्र अंकित करने में विचार-धारा के क्षेत्र में मौलिकता से काम नहीं लिया और उन्हें अपने इष्ट देवता के रूप में ग्रहण करते हुए भी, अवतार मानते हुए भी, वे गीतगोविंद के प्रणेता जयदेव तथा मैथिलकोकिल विद्यापति की

काव्य-परम्परा से तनिक भी पृथक् नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो श्रीकृष्ण परब्रह्म के अवतार-रूप में गृहीत होकर पूज्य हुए और दूसरी ओर उनका दैनिक जीवन का चरित्र एक महापुरुष का सा भी नहीं हुआ। महात्मा सूरदास महात्मा थे, प्रखर प्रतिभाशाली कवि थे; इसलिये वे तो कृष्ण-काव्य की परम्परा पर चलकर भी पथ-भ्रष्ट होने से बचे रहे। लेकिन उनके उत्तराधिकारियों ने तो उनकी त्रुटियों ही को अपनाया। उनमें सूर की राधा की वेदना का अनुभव करने की शक्ति नहीं थी, न वे सूर की कोटि के कलाकार थे। किन्तु वे सहज ही राधा को कुलटा और श्रीकृष्ण को दुराचार-रत नायक-रूप में अंकित करने की प्रवृत्ति के शिकार हो सकते थे; यह दोष उनका नहीं, उनकी सीमित प्रतिभा का था।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंत में राजनैतिक और साहित्यिक दोनों प्रकार की प्रतिभा और स्फूर्ति का स्थान मन्दता और स्थिरता ने ग्रहण करके हिन्दू जाति का निर्माण का कार्य्य शिथिल कर दिया। दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठकर जैसे जहाँगीर और शाहजहाँ ने अपनी किसी विशिष्ट प्रतिभाशीलता का परिचय नहीं दिया वैसे ही राम-काव्य के क्षेत्र में तुलसीदास के उत्तराधिकारी केशवदास और कृष्ण-काव्य के क्षेत्र में सूरदास[1] के अनुगामी बिहारीलाल[2] और देव[3] ने भाषा और शैली का शृंगार तथा साधा-

१—वि० १२४० वि० १६२०। २—वि० १६६०—१७२०। ३—वि० १७३०—१८०२।

रण श्रेणी के नायक-नायिकाओं की सृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख-योग्य काम नहीं किया । उक्त नायक-नायिका-सृष्टि में 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों की काव्यात्मक व्यंजना से काम लेने की प्रवृत्ति ने, उच्च कला की दृष्टि से—जिसमें विचार-धारा की स्वच्छता का एक आवश्यक भाग है—कहीं-कहीं सुकुमार भावनाओं के अधिकारी इन कवियों को कौड़ा के बदले में मुहर लुटाने के लिए विवश किया है । शेख़ भी इन्हीं कवियों की अनुयायिनी एक मुसलमान महिला थीं ।

विक्रम संवत् १७१२ के लगभग आलम नाम के एक बड़े ही भावुक कवि हो गये हैं । शेख़ इन्हीं की स्त्री थीं । आलम पहले सनाढ्य ब्राह्मण थे । शेख़ रँगरेजिन थीं । एक बार उन्होंने अपनी पगड़ी शेख़ को रँगने के लिए दी । शेख़ ने जब पगड़ी खोली तो उसमें काग़ज़ का एक चिट मिला, जिसमें दोहे का एक चरण लिखा था । यह चरण इस प्रकार का था :—

कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन ।

पता नहीं कवि महोदय ने शेख़ के सौन्दर्य से प्रथम ही प्रभावित होकर यह दोहार्द्ध लिखा था या नहीं । शेख़ ने दोहे की इस प्रकार पूर्त्ति की—

कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन ।

इस पूर्त्तिको उसी काग़ज़ में लिपिबद्धकरके शेख़ ने काग़ज़ पगड़ी में बाँध दिया और उसे कवि के हवाले किया । पगड़ी पाने पर जब

उनका ध्यान दोहे की पूर्ति पर गया तब वे शेख़ पर जी-जान से मुग्ध हो गये। शेख़ के प्रेम में मत्त होकर उन्होंने मुसल्मानी मत को स्वीकार कर लिया।

मुंशी देवीप्रसाद ने इस घटना को किंचित परिवर्त्तित रूप में प्रस्तुत किया है। वे दोहे के प्रथम चरण के स्थान में कवित्त के निम्नलिखित तीन चरण बतलाते है :—

"प्रेम रँग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झंपि उघरत हैं।
आलम सो नवल निकाई इन नैननि की,
पाँखुरी पदुम पै भंवर थिरकत हैं।"

इस कवित्त के चौथे चरण की पूर्त्ति शेख़ ने इस प्रकार की :—

"चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख,
जानत हैं रैनि ताते ताहि मैं रहत हैं।"

शेख़ की कविता में नारी-हृदय के सहज संकोच का अभाव देखकर हम चकित हो जाते हैं। घटना का प्रथम रूप तो उसके नारीत्व के लिए शोभाजनक नहीं। कारण स्पष्ट है— आलम की पगड़ी में दोहेवाले काग़ज़ के टुकड़े का पड़ा रह जाना भूल हो सकती है, किन्तु शेख़ का उत्तर देना तो सुनिश्चित विचार का फल था। जो हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शेख़ में

रण श्रेणी के नायक-नायिकाओं की सृष्टि के अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख-योग्य काम नहीं किया। उक्त नायक-नायिका-सृष्टि में 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों की काव्यात्मक व्यंजना से काम लेने की प्रवृत्ति ने, उच्च कला की दृष्टि से—जिसमें विचार-धारा की स्वच्छता का एक आवश्यक भाग है—कहीं-कहीं सुकुमार भावनाओं के अधिकारी इन कवियों को कौड़ो के बदले में मुहर लुटाने के लिए विवश किया है। शेख़ भी इन्हीं कवियों की अनुयायिनी एक मुसलमान महिला थी।

विक्रम संवत् १७१२ के लगभग आलम नाम के एक बड़े ही भावुक कवि हो गये हैं। शेख़ इन्हीं की स्त्री थी। आलम पहले सनाढ्य ब्राह्मण थे। शेख़ रँगरेजिन थी। एक बार उन्होंने अपनी पगड़ी शेख़ को रँगने के लिए दी। शेख़ ने जब पगड़ी खोली तो उसमें काग़ज़ का एक चिट मिला, जिसमें दोहे का एक चरण लिखा था। यह चरण इस प्रकार का था:—

कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन।

पता नहीं कवि महोदय ने शेख़ के सौन्दर्य्य से प्रथम ही प्रभावित होकर यह दोहार्द्ध लिखा था या नहीं। शेख़ ने दोहे की इस प्रकार पूर्त्ति की—

कटि को कंचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन।

इस पूर्त्ति को उसी काग़ज़ में लिपिबद्ध करके शेख़ ने काग़ज़ पगड़ी में बाँध दिया और उसे कवि के हवाले किया। पगड़ी पाने पर जब

उनका ध्यान दोहे की पूर्त्ति पर गया तब वे शेख़ पर जी-जान से मुग्ध हो गये। शेख़ के प्रेम में मत्त होकर उन्होंने मुसल्मानी मत को स्वीकार कर लिया।

मुंशी देवीप्रसाद ने इस घटना को किंचित परिवर्त्तित रूप में प्रस्तुत किया है। वे दोहे के प्रथम चरण के स्थान में कवित्त के निम्नलिखित तीन चरण बतलाते हैं :—

> "प्रेम रँग पगे जगमगे जगे जामिनि के,
> जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
> मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
> झूमत हैं झुकि झुकि झंपि उघरत हैं।
> आलम सो नवल निकाई इन नैननि की,
> पाँखुरी पदुम पै भंवर थिरकत हैं।"

इस कवित्त के चौथे चरण की पूर्त्ति शेख़ ने इस प्रकार की :—

> "चाहत हैं उड़िबे को देखत मयंक मुख,
> जानत हैं रैनि ताते ताहि मैं रहत हैं।"

शेख़ की कविता में नारी-हृदय के सहज संकोच का अभाव देखकर हम चकित हो जाते हैं। घटना का प्रथम रूप तो उसके नारीत्व के लिए शोभाजनक नहीं। कारण स्पष्ट है—आलम की पगड़ी में दोहेवाले काग़ज़ के टुकड़े का पड़ा रह जाना भूल हो सकता है, किन्तु शेख़ का उत्तर देना तो सुनिश्चित विचार का फल था। जो हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शेख़ में

मनोहर उक्तियाँ प्रस्तुत करने की शक्ति थी। अस्तु। शेख की कविता में राधा का चित्रण देखिए :—

सुनि चित चाहै जाकी किंकिनी की झनकार,
करत कलासी सोइ गति जु विदेह की।
'सेख' भनि आजु है सुफेरि नहिं काल्ह जैसी,
निकसी है राधे की निकाई निधि, नेह की।
फूल की सी आभा सब सोभा लै सकेलि धरी,
फूलि गैहैं लाल भूलि जैहै सुधि गेह की।
कोटि कवि पचैं तऊ बरनि न पावैं फबि,
बेसरि उतारे छबि बेसरि के बेहकी।

अभिसारिका नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में शेख की दूती नायक से कहती है :—

मृग मद पोति झांपी नीलंबर तऊ जोति,
धूम उरझाई मानो हेरी की सो झारी है।
लै चली हौं अंधियारी अंग अंग छबि न्यारी,
आरसी मैं दीप की सी दीपति पसारी है।
ऊजरो सिंगार 'सेख' जोन्ह हू को साजु कीनो,
जोन्ह हू में जोन्ह सी लसै सुधा सुधारी है।
बार बार कहत हौं प्यारी को छपाइ ल्याउ,
कैसें कै छपाऊं परछांहियो उज्यारी है।

लजीली नायिका के वशीकरण का मंत्र शेख ने अपनी मधु पंक्तियों में इस प्रकार बतलाया है:—

कीनी चाही चाहिली नवोढ़ा एकै बार तुम,
एक बार जाय तिहि छलु छल दीजिये।
'सेख' कहै आवन सुहेलो सेज आवै लाल,
सीखत सिखैगी मेरी सीख सुनि लीजिये।
आवन को नाम सुनि सावन किये है नैन,
आवन कहै मुकैसे आइ जाइ छीजिये।
बरबस बस करिबे को मेरो बस नाहिं,
ऐसी बैस कहौ कान्ह कैसे बस कीजिये।

निम्नलिखित कवित्तों में शेख-अंकित विविध नारी-चित्रों का अवलोकन कीजिए :—

(१)

छलिबे को आई ही सु हौंही छलि गई मनु,
छींकतौ न छलु करि पठई बिहारी हौं।
तूँ तौ चल है पै आली हौं हीये अचल सी हौं,
सादी रूप-रेख देखि रीझि भीजि हारी हौं।
'सेख' भनि लाल-मनि बेंदी की बिदा है ऐसे,
गोरे-गोरे भाल पर वारि फेरि हारी हौं
बैरिनि न होहु नेकु बेसरि सुधारि धरौ,
हौं तो वलि बेसरि के नेह बेध मारी हौं।

(२)

जागन दै जोन्ह सीरी लागन दे रात जैसे,
जात सारी सेत में संघात की न जानिहै।

अथये को भोर परो साथ लीजै मो सी नारि,
आतुरी न होइ यह चातुरी की खानिहै।
घूँघट ते 'सेख' मुख जोति न घटैगी छिनु,
झीनों पट न्यारिये झलक पहचानिहै।
तू तौ जानै छानी पै न छानी या रहैगी बीर,
छानी छबि नैनन को काको लोह छानिहै।

(३)

जोगी कैसे फेरनि बियोगी आवै बार बार,
जोगी ह्वै है तौ लगि वियोगी बिललातु है।
जा छिन ते निरखि किसोरी हरि लियो हेरि,
ता छिन ते खरोई परोई पियरातु है।
'सेख' प्यारे अति हीं बिहाल होइ हाय हाय,
पल पल अंग की मरोर मुरझातु है।
आन घाल होत तिहि तन प्यारी चलि चाहि,
बिरही जरनि ते बिरह जरयो जातु है।

(४)

जोबन के फूल बन फूलनि मिलन चली,
बीच मिले कान्ह सुधि बुधि बिसराई है।
बाँसुरी सुनत भई बाँसुरीगी बाँसुरी सु,
बाँसुरी की काहि 'सेख' आँसुनि अघाई है।

थकि थहराइ बहराइ बैठिया न कहू,
　　　　ठहराइ जाय ऐसो पुनि ठहराई है।
बारुनी विरह आक बाक बकवास लगी,
　　　　गई हुती छाक देन आपु छकि आई है।

(२)

नेह सों निहारैं नाहिं नेकु आंगे कीने बाहु,
　　　　छाँहियो छुवंत नारिं नाहियों करति है।
प्रीतम के पानि पेलि आपनी भुजैं सकेलि,
　　　　धंकि संकुचि हियों गाढ़ी कै धरति है।
'सेख' कहि आधे बैना बोलि करि नीचे नैना,
　　　　हा हा करि मोहन के मनहिं हरति है।
केलि के अरम्भ खिन खेल के बढ़ायबे को,
　　　　मोढ़ा जो प्रवीन सो नवोढ़ा ह्वै डरति है।

शेख अंकित निम्नलिखित नायक-चित्र भी देखिए। इन पंक्तियों में नायक का स्थान श्रीकृष्ण ने लिया है :—

(१)

कहूँ भूल्यो वेनु कहूँ धाइ गई धेनु कहूँ,
　　　　आयं चित चैनु कहूँ मोरपंख परे हैं।
मन को हरन को है अधुरा छरन को है,
　　　　फंद हो छुटत फंध छूनि छूवै छे छूरे हैं॥

'सेख' कहै प्यारी तू जौ जबही ते बन गई,
तब ही ते कान्ह अंसुवनि सर करे हैं।
याते जानियति हैं जू वेऊ नदी नारे नीर,
कान्ह उर विकल बियोग रोग भरे हैं॥

(२)

बांस बिधि आऊं दिन बारीयें न पाऊं और,
याही काज वाही घर बांसनि की बारी है।
नेकु फिरि ऐहैं कैहैं दै री दै जसोदा मोहिं,
मो पै हठि माँगैं बंसी और कहूँ डारी है।
'सेख' कहै तुम सिखवो न कछु राम, याहि,
भारी गरिहाइनु की सीखे लेतु गारी है।
संग लाइ मैया नेकु न्यारो न कन्हैया कीजै,
बलन बलैया लैकै मैया बलिहारी हैं।

रसिक बिहारी  

अठारवीं विक्रमी शताब्दी के द्वितीय चरण में महाराज नागरीदास नाम के एक भक्त कवि हो गये हैं। घनानंद, शीतल, घाघ, भूधरदास, कृष्ण, जोधराज, रसिक सुमीन, गंजन, अली मुहिब्बखाँ 'प्रीतम' हरिकेश, बख्शी हंसराज, राजा गुरुदत्त सिंह, 'भूपति', तोषनिधि, दलपतिराय, सोमनाथ, रसलीन, रघुनाथ, ललित किशोरी, गिरिधरराय, नूर मुहम्मद, दूलह आदि कवियों का काव्य-काल यही था। इन कवियों में से कुछ को छोड़ कर शेष ने बहुत साधारण श्रेणी की रचना की। अधिकांश कविताओं में राधा और कृष्ण का नायिका और नायक के रूप में अंकन अत्यन्त निम्न श्रेणी का हो गया है। स्वयं महाराज नागरीदास, जो विरक्त होने के बाद महात्मा नागरीदास कहलाये, इस प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त नहीं रह सके; वह काल ही ऐसा था, उस समय की विचार-धारा की गति ही इस दिशा में थी। रसिकबिहारी, जिनका असली नाम 'बनी ठनी जी' था, उक्त महात्मा नागरीदास की शिष्या और दासी

थीं; महात्मा जी के सम्पर्क से ही काव्य की ओर उनकी प्रवृत्ति हो सकी। रसिक बिहारी की रचनाओं में पदलालित्य की विशेषता स्पष्ट ही है। उनके वृन्दावन में रहने पर भी उनकी कविता कृष्ण और राधा के प्रेममय चित्रों को न अंकित करती तो यह आश्चर्य ही की बात होती। रसिकबिहारी ने अधिकांश में शृंगार-रसपूर्ण कविताएँ की हैं और पूर्ववर्त्ती कवियों के चिर प्रयोग के कारण नायक-नायिका चित्र को सहज ही आँखों के सामने स्पष्ट कर देने की क्षमता रखनेवाले 'कृष्ण' और 'राधा' शब्दों की व्यंजना-शक्ति से पूरा लाभ उठाया है।

नीचे की पंक्तियों में रसिकबिहारी की शृंगार-रससम्बन्धी प्रवृत्ति का परिचय, असंदिग्ध रूप से, मिलता है:—

(१)

गहगह साज समाज-जुत, अति सोभा उफनात।
चलिबे को मिलि सेज-सुख, मंगल-मुदमय-रात॥
रही मालती महकि तहं, सेवत कोटि अनंग।
करी मदन मनुहार मिलि, सब रजनी रस-रंग॥
चले दोउ मिलि रसमसे, मैन रसमसे बैन।
प्रेम रसमसी ललित गहि, रंग रसमसी रैन॥
'रसिकबिहारी' सुख सदन, आए रस सरसात।
प्रेम बहुत थोरी निसा, ह्वै आयो परभात॥

(२)

कुंज पधारो रंग-भरी रैन ।।
रंग भरी दुलहिन रंग भरे पीया स्यामसुंदर सुख दैन ॥
रंग-भरी सेज रची जहां सुन्दर रंग-भरयो उलहत मैन ।
'रसिकबिहारी' प्यारी मिलि दोउ करौ रंग सुख-चैन ॥

(३)

होरी होरी कहि बोलें सब ब्रज की नारि ।
नन्दगांव-बरसानो हिलि मिलि गावत इत उत रस की गारि ॥
उड़त गुलाल अरुण भयो अंबर चलत रंग पिचकारि कि धारि ।
'रसिकबिहारी' भानु-दुलारी नायक संग खेलें खेलवारि ॥

रसिक बिहारी के नायिका-चित्र साधारण, किन्तु मधुर और हृदय-स्पर्शी हैं :—

(१)

धीरे झूलो री राधा प्यारी जी ।
नवल रंगीली सबै झुलावत गावत सखियां सारी जी ॥
फहरात अंचल चल चंचल लाज न जात सँभारी जी ।
कुंजन ओर दुरे लखि देखत प्रीतम 'रसिकबिहारी' जी ॥

(२)

कैसे जल लाऊं मैं पनघट जाऊं ।।
होरी खेलत नन्द लाडिलो क्योंकर निबहन पाऊं ।।

वे तो निलज फाग मदमाते हौं कुल-वधू कहाऊं ।
जो छुवें अंचल 'रसिकबिहारी' धरती फार समाऊं ॥

(३)

मैं अपनो मन-भावन लीनौं, इन लोगन को कहा न कीनौं।
मन दै मोल लयौ री सजनी, रतन अमोलक नन्ददुलारे॥
नवल लाल रंग भीनो।
कहा भयो सब के मुख मोरे, मैं पायो पीव प्रवीनौं।
'रसिकबिहारी' प्यारो प्रतीम, सिर बिधना लिख दीनौं॥

रसिकबिहारी के नायक-चित्रों में भी वैसी ही भावुकता है जैसी नायिका-चित्रों में—

(१)

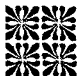
रतनारी हो थारी आंखड़ियां।
प्रेम छकी रस-बस अलसाणी जाणि कमल की पांखड़ियां॥
सुन्दर रूप लुभाई गति मति हौं गई ज्यूं मधु मांखड़ियां।
रसिकबिहारी वारी प्यारी कौन बसी निसि कांखड़ियां॥

(२)

हो झालो दे छे रसिया नागर पनां।
सारां देखें लाज मरां छां आवां किण जतनां॥
छैल अनोखो क्यों कह्यो मानै लोभी रूप सनां।
'रसिकबिहारी' नणद बुरी छै हर लाग्यो म्यारो मनां॥

(३)

ये बांसुरियावारे ऐसो जिन बतराय रे।
यों बोलिए! अरे घर बसे लाजनि दबि गई हाय रे॥
हौं धाई या गैलहिं सों रे! नैन चल्यो धौं जाय रे।
'रसिकबिहारी' नांव पाय कै क्यो इतनो इतराय रे॥



सहजोबाई और दयाबाई *

सहजोबाई और दयाबाई को आध्यात्मिक तथा साहित्यक क्षेत्र में मीरांबाई की उत्तराधिकारिणी मानना चाहिए। मीराँ पर निर्गुणवादियों का जैसा प्रभाव दृष्टिगोचर होता है वैसा ही सहजो और दया पर भी पाया जाता है। मीराँ ने श्रीकृष्ण को अपना प्रेमपात्र बनाया था; सहजो और दया को भी हम श्रीकृष्ण की ओर वैसी ही प्रवृति रखते पाते हैं। किन्तु फिर भी मीरांबाई और इनमें अन्तर है—मीराँ में जो भावुकता और तन्मयता थी उसका शतांश इनमें नहीं था। जो हो सहजोबाई और दयाबाई के सरल नीति अथवा धर्म-सम्बन्धी पदों को हम कला की दृष्टि से भले ही प्रवीणराय, और शेख की कविता से हीन समझें किन्तु यदि हमारा दृष्टिकोण यह हो कि सीधी-सादी लोकहितकारक बात को सीधे-सादे ढंग से कहना किसी असुंदर, अकल्याणकर विषय को आकर्षक और मनोहर रूप में प्रस्तुत करने की अपेक्षा अधिक श्रेयस्कर है तो सहजो और दया की पानी की तुलना और

विमलता सहज ही हमें सन्तुष्ट करती है, भले ही उसमें चमत्कार न हो, भले ही विचित्रता, और लालित्य आदि गुणों से वह सम्पन्न न हो। इन दोनों देवियों में इतना भावसाम्य है कि जो बात एक के लिए कही जाय, वह दूसरे के लिए भी यथार्थ हो सकती है। ये दोनों गुरु-बहनें थीं। इनमें से पहले सहजोबाई की कविता का परिचय यहाँ दिया जायगा।

सहजोबाई साधु शुकदेव उपनाम चरनदास की शिष्या थीं, जो इनके कथनानुसार सं० १७६० में वर्त्तमान थे। उनकी प्रशंसा इन्होंने इस प्रकार की है—

(१)

सखीरी आज जनमे लीला-धारी।
तिमिर भजैगो भक्ति खिड़ैगी, पारायन नर नारी॥
दरसन करतै आनँद उपजै, नाम लिये अघ नासै।
चरचा में सन्देह न रहसी, खुलि है प्रबल प्रगासै॥
बहुतक जीव ठिकानो पैहैं, आवागवन न होई।
जम के दण्ड दहन, पावक की, तिन कूँ मूल निकोई॥
होइ है जोगी प्रेमी ज्ञानी, ब्रह्मरूप ह्वै जाई।
चरन दास परमारथ कारन, गावै सहजो बाई॥

(२)

सखीरा आज जनम लियौ सुख दाई।
दूसर कुल में प्रगट हुए हैं, बाजत अनँद बधाई॥

भादों तीज सुदी दिन मंगल, सात घड़ी दिन आये।
सम्वत् सत्रह साठ हुते तब, सुभ समयो सब पाये॥
जैजैकार भयौ मधि गाऊँ, मात पिता सुख देखौं।
जानत नाहिन कौन पुरुष हैं, आये हैं नर भेखौ॥
संग चलावन अगम पन्थ कूँ, सूरज भक्ति-उदय को।
आप गुपाल साधनन धारयौ, निहचै मो मन ऐसो॥
गुरु सुकदेव नाँव धरि दीन्हौ, चरनदास उपकारी।
सहजोबाई तन मन वारे, नमो नमो बलिहारी॥

सहजोबाई का कविता काल लगभग सं० १८०० मानना चाहिये। ये दूसर कुल की रत्न-स्वरूपा थीं। इनमें संसार की अनित्यता के प्रति कितना विराग-भाव था, इसका परिचय आप निम्नलिखित पंक्तियों से पा सकते हैं:—

'सहजो' भजि हरि नाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं, अपनी सगी न देह॥
जैसे संडसी लोह की, छिन पानी छिन आग।
ऐसें दुख सुख जगत के 'सहजो' तू मन पाग॥
अचरज जीवन जगत में, मरिबो साँचो जान।
'सहजो' अवसर जात है, हरि सूँ ना पहिचान॥
झूठा नाता जगत का, झूठा है घर बास.
यह तन झूठा देख कर, 'सहजो' भई उदास॥
कोई किसी के संग ना, रोग मरन दुख बंध।

इतने पर अपनी कहैं, सत जो ये नर अंध ॥
नर बिछुड़न यों होइगो, ज्यों तरवा सूँ पात ।
सहजो काया प्रान यों, सुख सेती ज्यों बात ॥

निर्गुण भगवान का गुणगान सहजो ने इस प्रकार किया है:—

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप ।
सहजो सब कछु ब्रह्म है, हरि परगट हरी रूप ॥
भक्त हेत हरि आइया, पिरथी भार उतारि ।
साधन की रच्छा करी, पापी डारे मारि ॥
ताके रूप अनन्त हैं, जाके नाम अनेक ।
ताके कौतुक बहुत हैं, 'सहजो' नाना भेष ॥
है अखंड व्यापक सकल, सहज रहा भर पूर ।
ज्ञानी पावै निकट हीं, मूरख जानै दूर ॥
नया पुरना होय ना, घुन नहिं लागे जासु ।
'सहजो' मारा न मरै, भय नहिं व्यापै तासु ॥
फिरै घटै छीजै नहीं, ताहि न भिजवै नीर ।
ना काहू के आसरे, नां काहू के सीर ॥
रूप बरन वाके नहीं, 'सहजो' रंग न देह ।
मीत इष्ट वाके नहीं, जाति पांति नहिं गेह ॥
सहजो उपजै ना मरै, सद वासी नहिं होय ।
रात दिवस तामें नहीं, सीत उस्न नहि सोय ॥
आग जलाय सकै नहीं, सस्तर सकै न काटि ।
धूप सुखाय सकै नहीं, पवन सकै नहिं आटि ॥

मात पिता वाके नहीं, नहिं कुटुंब को साज।
'सहजो' वाहि न रंकता, ना काहू को राज॥
आदि अन्त ताके नहीं, मध्य नहीं तेहि माहिं।
वार पार नहिं 'सहजिया' लघू दीर्घ भी नाहिं॥
परलय में आवै नहीं, उत पति होय न फेर।
ब्रह्म अनादि 'सहजिया' घने हिराने हेर॥
जाके किरिया करम ना, षट दर्सन को भेस।
गुन औगुन ना 'सहजिया', ऐसे पुरुष अलेस॥
रूप नाम गुन सूं रहित पाँच तत्त सूं दूर।
चरन दास गुरु ने कही 'सहजो' छिमा हजूर॥
आपा खोये पाइयें, और जतन नहिं कोय।
नीर छीर निर्तोय के 'सहजो' सुरति समोय॥

(२)

तेरी गति कितहुँ न जानी हो।
ब्रह्मा सेस महेसुर थाके, चारो बानी हो॥
याद करंते सब मत थाके, बुद्धि थकानी हो।
विद्या पढ़ि पढ़ि पंडित थाके, अरु ब्रह्मज्ञानी हो॥
सबके परे सुअन मन हारी, थाह न आनी हो।
ध्यान योग करि बहुतक थाकी, भई खिसानी हो॥
सुर नर मुनिजन गनपति थाके, बड़े विनानी हो।
चरन दास थकी 'सहजोबाई' भई सिरानी हो॥

सहजो ने निर्गुण और सगुण का सामंजस्य भी उपस्थित किया है। उनकी दृष्टि में श्रीकृष्ण का रूप ऐसा ही है। वे कहती हैं:—

(१)

मेरे इक सिर गोपाल, और नहीं कोउ भाई।
आइ बैस हिये माँहिं, और दूजा ध्यान नाहिं,
मेरे तो सर्बस उन औ हिताई वोई॥
जाति हू की कान तजी, लोक हू की लाज भजी,
दोनों कुल माँहिं वनो, कहा करै सोई॥
उघरी है प्रीति मेरी, निहचै हुई वाकी चेरो,
पहिरि हिये प्रेम बेरो, टूटै नहिं लोई॥
मैं जो चरनदास भई, गति मति सब खोइ दई,
'सहजो' बाई नहीं रही, उठि गई दोई॥

(२)

धन्य जसोदा नन्द - धन, धन ब्रज मंडल देस।
आदि निरंजन 'सहजिया' भयो ग्वाल के भेष॥
निर्गुन सर्गुन एक प्रभु देख्यो समझ विचार।
सतगुरु ने आँखी दईं, निहचै कियो निहार॥

सहजो का मत है कि ईश्वर को निर्गुण रूप में मानो या सगुण रूप में, पर किसी सच्चे गुरु की सहायता के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(१)

गुरु बिन मारग ना चलै, गुरु बिन लहै न ज्ञान।
गुरु बिन सहजो धुन्ध है, गुरु बिन पूरी हान॥
हरि किरपा जो होय तो, नाहीं होय तो नाहिं।
पै गुरु किरपा दया बिनु, सकल बुद्धि बहि जाहिं॥

(२)

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ॥
हरि ने जन्म दियो जगमाहीं। गुरु ने आवागमन छुटाहीं॥
हरि ने पांच चोर दिये साथा। गुरु ने लई लुटाय अनाथा॥
हरि ने कुटुँब जाल में गेरी। गुरु ने काटी ममता बेरी॥
हरि ने रोग भोग उरझायो। गुरु जोगी कर सबै छुटायो॥
हरि ने कर्म मर्म भरमायो। गुरु ने आतम रूप लखायो॥
फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये। गुरु ने सब ही भर्म मिटाये॥
चरन दास पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि को तजि डारूँ

(३)

गुरु की अस्तुति कहाँ लौं कीजै। बदला कहा गुरू कूँ दीजै॥
गुरु का बदला दिया न जाई। मन में उपजत है सकुचाई॥
इन नैनन जिन राम दिखाये। बंधन कोटि-कोटि मुकाये॥
अभय दान दीनन कूँ दीन्हे। देखत आप सरीखे कीन्हे॥
गुरु की किरपा अपरम्पारै। गुन गावत मम रसना हारै॥

सेस सहस मुख निसिदिन गावै। गुरु अस्तुति का अन्त न पावै॥

जिस किसी को ईश्वर की लगन लग जाती है, उससे सच्चा अनुराग हो जाता है, उसकी दशा ही और की और हो जाती है। सहजो का कहना है:—

> प्रेम दिवाने जो भये पलटि गयो सब रूप।
> 'सहजो' दृष्टि न आवई, कहा रंक कहा भूप॥
> प्रेम दिवाने जो भये, नेम धरम गयो खोय।
> 'सहजो' नर नारी हंसैं, वा मन आनँद होय॥
> प्रेम दिवाने जो भये, 'सहजो' डिगमिग देह।
> पाँव पड़ै कितकै किती, हरि संभाल जब लेइ॥
> प्रेम लटक दुर्लभ महा, पावै गुरु के ध्यान।
> अजपा सुमिरन करत हूँ, उपजै केवल ज्ञान॥

दयाबाई का जन्म मेवात के डेरा नामक गांव में हुआ था। महात्मा चरनदास ने, जो इनके भी गुरु थे, इसी गाँव में जन्म ग्रहण किया था। इनका जन्म-काल सं० १७५० और १७७५ के बीच में माना जा सकता है। सं० १८१८ में इन्होंने 'दयाबोध' नामक ग्रंथ का निर्माण किया। सहजो की तरह दया में भी संसार के प्रति विराग-भाव पाया जाता है। वे कहती हैं:—

> 'दया कुंवरि' या जक्त में, नहीं रह्यो थिर कोय।
> जैसे बास सराय को, तैसो यह जग होय॥

जैसे मोती श्रोस को, तैसो यह संसार।
बिनसि जाय छिन एक में, 'दया' प्रभू उरधार ॥
तात मात तुम्हरे गये, तुम भी भये तयार।
आज काल्ह में तुम चलौ 'दया' होहु हुसियार ॥

ज्ञान हो जाने पर उन्हें सम्पूर्ण विश्व की एकता का अनुभव हुआ, और चारों ओर अपना ही अभिन्न स्वरूप दिखायी दिया—

ज्ञान रूप को भयो प्रकास।
भयो अविद्या तम को नास ॥
सूझ परयो निज रूप अभेद।
सहजै मिट्यो जीव को खेद ॥
जीव ब्रह्म अन्तर नहिं कोय।
एकै रूप सर्व घट सोय ॥
जगत विवर्त सूँ न्यारा जान।
परम अद्वैत रूप निर्वान ॥
बिमल रूप व्यापक सब ठाईं।
अरध उरध महँ रहत गुसाईं ॥
महा सुद्ध साच्छी चिद्रूप।
परमातम प्रभु परम अनूप ॥
निराकार निरगुन निरवासी।
आदि निरंजन अज अविनासी ॥

दयाबाई का कहना है कि साधु-संत की सेवा स्वयं भगवान की सेवा है । संसार रूपी सागर को पार करने के लिए यदि हरिनाम नाव की तरह है तो साधु उसका खेने वाला है; इसलिए सत्संग और साधु-सेवा तो करनी ही चाहिए—

(१)

साध साध सब कोउ कहै, दुरलभ साधू सेव।
जब संगति ह्वै साधकी, तब पावै सब भेव॥
साध रूप हरि आप हैं, पावन परम पुरान।
मेटैं दुविधा जीव की, सब का करैं कल्यान॥
कोटि जग्य व्रत नेम तिथि, साध संग में होय।
विषम व्याधि सब मिटत है, सांति रूप सुख जोय॥
साधू बिरला जक्त में, हर्ष सोक करि हीन।
कहन सुनन कूँ बहुत हैं, जन जन आगे दीन॥
कलि केवल संसार में, और न कोउ उपाय।
साध-संग हरि नाम बिनु मन की तपन न जाय॥
साध-संग जग में बड़ो, जो करि जानै कोय।
आधो छिन सतसंग को, कलमख डारै खोय॥

(२)

'दयादासि' हरि नाम लै, या जग में यह सार।
हरि भजते हरि ही भये, पायो भेद अपार॥

सोवत जागत हरि भजो, हरि हिरदे न बिसार।
डोरी गहि हरि नाम की, 'दया' न टूटै तार।
नारायन नर देह में, पैयत है ततकाल।
सतसंगति हरि भजन सूँ, काढ़ो तृस्ना ब्याल॥
दया नाव हरि नाम की, सतगुरु खेवन हार।
साधू-जन के संग मिलि, तिरत न लागै वार॥

दयाबाई ने सांसारिक दुर्बलताओं से मुक्ति प्राप्त कराने वाले गुरु की महिमा का भी मनोहर वर्णन किया है—

(१)

सतगुरु सम कोउ है नहीं, या जग में दातार।
देत दान उपदेश सों, करैं जीव भव पार॥
गुरुकिरपा बिन होत नहिं, भक्ति भाव बिस्तार।
जोग जज्ञ जप तप 'दया' केवल ब्रह्म बिचार॥
या जग में कोउ है नहीं, गुरु सम दीन दयाल।
सरनागत कूँ जानि कै, भले करैं प्रतिपाल॥
मनसा बाचा करि 'दया' गुरु चरनों चित लाव।
जग समुद्र के तरन कूँ, नाहिन आन उपाव॥
जे गुरु कूँ बन्दन करैं 'दया' प्रीति के भाव।
आनँद मगन सदा रहैं, तिरविध ताप नसाव॥
चरन कमल गुरु देव के, जे सेवत हित लाय।
'दया' अमरपुर जात हैं, जग सुपनों बिसराय॥

सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं मनुष भाव मत जान ।
देह भाव मानैं 'दया' ते हैं पसू समान ॥
नित प्रति बन्दन कीजिये, गुरु कूँ सीस नवाय ।
'दया' सुखी कर देत हैं, हरि स्वरूप दरसाय ॥

(२)

गुरु बिन ज्ञान ध्यान नहिं होवै ।
गुरु बिनु चौरासी मग जावै ॥
गुरु बिन राम भक्ति नहिं जागै ।
गुरु बिन असुभ कर्म नहिं त्यागै ॥
गुरु हो दीन दयाल गोसाईं ।
गुरु सरनैं जो कोई जाई ॥
पलटैं करैं काग सूँ हंसा ।
मन को मेटत हैं सब संसा ॥
गुरु हैं सागर कृपा निधाना ।
गुरु है ब्रह्म रूप भगवाना ॥
हानि लाभ दोउ सम करि जानैं ।
हृदै ग्रंथि नीकी विधि मानैं ॥
दै उपदेश करैं भ्रम नासा ।
दया देत सुख सागर बासा ॥
गुरु को अहिनिस ध्यान जो करिये ।
विधिवत सेवा में [illegible]

तन मन सूं अज्ञा में रहिये।
गुरु आज्ञा बिन कछू न करिये॥

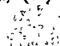
सहजो की तरह दया ने भी उस प्रेम का वर्णन किया है जिसकी चोट लग जाने पर मनुष्य सांसारिक पीड़ाओं से मुक्त होकर निश्चिन्त हो जाता है, जिसके फल-स्वरुप उसे अपने तन मन की ही खबर नहीं रह जाती—

दया प्रेम प्राप्यो तिन्है, तन की तनि न संभार।
हरि रस में माते फिरें, गृह बन कौन बिचार॥
हरि रस माते जे रहैं, तिनको मतो अगाध।
त्रिभुवन की सम्पति 'दया', तृन सम जानत साध॥
कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगमिगात सब देह।
'दया' मगन हरि रूप में, दिन दिन अधिक सनेह॥
हँसि गावत रोवत उठत, गिरि गिरि परत अधीर।
पै हरि रस चसको 'दया', सहै कठिन तन पीर॥
बिरह बिथा सूं हूँ बिकल, दरसन कारन पीव।
'दया' दया की लहर कर, क्यों तलफावो जीव॥
पंथ प्रेम को अटपटो, कोइ न जानत बीर।
कै मन जानत आपनो, कै लागो जेहि पीर॥
सोवत जागत एक पल, नाहिन बिसरों तोहि।
करुना सागर दया निधि, हरि लीजै सुधि मोहि॥
प्रेम पुंज प्रगटै जहाँ, तहाँ प्रगट हरि होय।
'दया दया करि देत हैं, श्री हरि दर्सन सोय॥

सुन्दरकुंवरि बाई  

रसिक विहारी की कविताओं का परिचय कराते हुए प्रसंगवश हमने महाराज नागरीदास की चर्चा की थी। यहां उन्हीं की बहन श्रीमतीसुंदर कुंवरि की कविताओं के सम्बन्ध में कुछ निवेदन किया जायगा।

सुन्दरकुँवरि बाई का जन्म कार्त्तिक सुदी ६ सम्वत् १७९१ में दिल्ली में हुआ था। ये रूपनगर और कृष्णगढ़ के राजा राजसिंह राठौर की कन्या थीं। ३०-३१ वर्ष की अवस्था में इनका विवाह राघवगढ़ के महाराज वलभद्रसिंह के पुत्र कुँवर वलदेवसिंह के साथ हुआ। होलकर और सेंधिया के आक्रमणों के कारण इनके पति देव का जीवन शान्तिमय नहीं रह सका, जिससे अवश्य ही देवी जी के साहित्यिक कार्य्यों में भी व्याघात पड़ा। फिर भी इन्होंने (१) नेह विधि-रचना, (२) वृन्दावन गोपी-माहात्म्य, (३) संकेल युगुल, (४) रसपुंज, (५) प्रेम संपुट, (६) सार-संग्रह, (७) रंगझर, (८) गोपी माहात्म्य, (९) भावनाप्रकाश; (१०) रामरहस्य,



आदि ग्रंथों की रचना के साथ-साथ विविध पदों तथा स्फुट कवित्तों की रचना की। इससे स्पष्ट है कि यदि शान्तिमय वातावरण मिलता तो शायद ये और अधिक रचनाओं का निर्माण कर सकतीं।

सुंदरिकुँवरि ने अपने काल के अन्य कवियों की तरह अधिकतर सामयिक प्रवाह के अनुकूल ही कविता की है। नायिका और नायक की उद्भावना करने में इन्होंने भी 'राधा' और 'कृष्ण' शब्दों की प्रचलित व्यञ्जनाओं से काम लिया है। निम्न-लिखित पंक्तियों में इनका नायिका-अंकन देखिए:—

(१)

आज्ञा लहि घनश्याम की चली सखी वहि कुंज।
जहाँ बिराजत मानिनी श्री राधा-सुख पुंज॥
श्री राधा सुख-पुंज कुंज तिहि आई सहचरि।
वह कन्या को संग लिये प्रेमातुर मद भरि॥
कहत भई कर जोर निहोरन बात सयानिनि।
तजहु मान अब मान मान मो राखहु मानिनि॥

(२)

प्रिय के प्रान समान हो सोखी कहाँ सुभाय।
चख-चकोर आतुर चतुर चंदानन दरसाय॥
चंदानन दरसाय अरी हा ! हा ! है तोसों।
वृथा मान गह छोड़ि कही पिय को सुनि मोसों॥

सूधे दृष्टि निहारि प्रिया सुनि प्रेम पहेली।
जल बिन कमल अहि-मणि जुदीत इन गति उन पेली॥

(३)

श्री वृषभानु-सुता मन-मोहन जीवन प्रान अधार पियारी।
चन्द्रमुखी सुनिहारन आतुर चातुर चित्त चकोर बिहारी॥
जा पद-पंकज के अलि लोचन स्याम के लोभित सोभित भारी।
हौं बलिहारी सदा पग पै नव नेह नवेली सदा मतवारी॥

(४)

मेरी प्रान-सजीवन राधा।
कब तो बदन सुधाधर दरसैं यों अँखियन हरै बाधा॥
ठमकि ठमकि लरिकौंहीं चालन आव सामुहे मेरे।
रस के बचन पियूष पोष के कर गहि बैठहु मेरे॥
रहसि रंग की भरी उमंगनि ले चल संग लगाय।
निभृत नवल निकुंज विनोदन विलसत सुख-दरसाय॥
रगमहल संकेत जुगल कै टहलिन करतु सहेली।
आज्ञा लहौं रहौं तहँ तत्पर बोलत प्रेम-पहेली॥
मन-मंजरी जु कीन्हीं किंकरि अपनावहु किन बेग।
सुन्दरकुंवरि स्वामिनी राधा हित की हरो उदेग॥

(५)

त्राहि त्राहि वृषभानु-नंदिनी नोकों मेरो लाज।
मन-मलाह के परो भरोसे बूड़त जन्म-जहाज।

उदधि अथाह थाह नहिं पइयत प्रबल पवन की सोप।
काम, क्रोध, मद, लोभ भयानक लहरन के अति कोप ॥
ग्रसन पसारि रहे मुख तामहिं कोटि ग्राह से जेते।
बीच धार तहँ नाव पुरानी तामहिं धोखे केते॥
जो लगि सुर मग करै पार यहि मो केवट मति नीच।
वही बात अति ही बौरानी चहत डुबोवन बीच॥
याको कछु उपचार न लागत हिय हीनत है मेरो।
सुन्दरकुँवरि बाँह गहि स्वामिनि एक भरोसो तेरो॥

सुन्दरिकुँवरि की नायक-सृष्टियाँ साधारण श्रेणी की; मधुर और हृदयस्पर्शिनी हैं:—

(१)

कहत श्याम मेरे नहीं तुम बिन कोऊ आन।
प्रानहु है प्यारी प्रिया काहि करत हौ मान॥
काहि करत हौ मान चलहु पिय संग बिहारौ।
राधा राधा मंत्र नाम वे रटत तिहारौ॥
नायक नन्दकुमार सकल सुभ गुन के सागर।
तिनसौं मान निवार बहुत विनवत सुनि नागर ॥

(२)

उतै अकेले कुञ्ज में बैठे नन्द किसोर।
तेरे हित सज्जा रचत विविध कुसुम दल-जोर॥

विविध कुसुम दल-जोर तलप निज हाथ बनावत ।
करि करि तेरो ध्यान कठिन सों छिनन बिहावत ॥
जाके सब आधीन सुतो आधीनी तेरे ।
जिहिं मुख लखि ब्रज जियत वहै तो मुख रुख हेरे ॥

(३)

सुन्दर स्याम मनोहर मूरति श्रीब्रजराज कुंवार बिहारी ।
मोर पखा सिर गुंज हरा बनमाल गरे कर बंसिका धारी ॥
भूषन अङ्ग के संग सुशोभित लोभित होत लखैं ब्रजनारी ।
राधिका-वल्लभ मो दृग-गेह बसौ नवनेह रहौं मतवारी ॥

(४)

मन-मोहन के दृग की गति तौ मन संग लै घूँघट की ठगई ।
लखि सास लखात किशोरी लजात सु भौंहैं कछू इतरान ठई ॥
इतरानहिं की ललचान इतै लगि छूटन नैनन आव पई ।
रहि कान्ह का लाजहि रीझि गई इनहूँ ते वहै रिझवारि भई ॥



प्रतापकुंवरि बाई  

श्रीमती प्रतापकुँवरि बाई जोधपुर रियासत के जाखण नामक परगना के भाटिया ठाकुर गोयंद दास जी की कन्या थीं। आप का जन्म लगभग सं० १८७३ में हुआ था। बाई जी मारवाड़ के महाराजा मानसिंह के साथ व्याही गयी थी। अपना परिचय उन्हों ने स्वयँ निम्नलिखित पंक्तियों में इस प्रकार दिया है:—

जदुकुल अति उत्तम सुखदाई।
जामें कृष्ण प्रगट भे आई॥
तेहि कुल में गोयँद मम ताता।
प्रगटे जाण नगर विख्याता॥
नगर जोधपुर मान महीपा।
सब राठौर वंश में दीपा॥
तेहि नृप ते मैं कियो विवाहा।
गावत मंगल अमत उछाहा॥

ईस सरूप जानि पति याँचा।
सेवा कीन्हीं मनसा वाचा॥
सँवत अठारी अंत उदासा।
बरस सई की भादव मासा॥
पति वियोग दुख भयो अपारा।
भयो सकल सूनों संसारा॥

बाई जी पति को भगवान के रूप में देखती थीं, जो मीराबाई के आदर्श से थोड़ा भिन्न, किन्तु साधारणतया गृहस्थ-जीवन और आध्यात्मिक जीवन की प्रतिकूलता को मिटाकर एक मध्य मार्ग उपस्थित करने वाला, आत्मविकास का अपेक्षाकृत कम सक्रटापन्न, साधन है। उनका यह भाव उनकी निम्न लिखित पंक्तियों से प्रगट होता है:—

पति समान नहिं दूजा देवा। तातैं पति की कीजै सेवा॥
पति परमातम एक समाना। गावैं सब ही वेद पुराना॥
धरम अनेक कहे जग माहीं। तिय के पतिव्रत सम कछु नाहीं।
देवहुती अनुसुइया नारी। पतिव्रत ते हरि सुत अवतारी॥

बाई जी के जीवन में आध्यात्मिक आनन्द की झलक देखी जाती है। जैसे उनका दाम्पत्य-जीवन पति को परमेश्वर-रूप में समझने की दिव्य कल्पना से विभूषित था, वैसे ही उनका कवि-जीवन भी आध्यात्मिक आनन्द की खोज का परिचय देता है। उन्होंने अधिकांश में आत्म-चिंतन का भाव उद्दीप्त करने वाली

कविताएँ लिखी हैं, जिनमें मधुर पदावली और सुंदर मानसिक भावों का सहृदयता पूर्ण अंकन भले ही न पाया जाय, किन्तु जो असंदिग्ध रूप से पाठक के हृदय पर अच्छा प्रभाव डालने की शक्ति रखती हैं। उनकी नीचे की पंक्तियाँ स्वयं इस बात को स्पष्ट करती हैं:—

(१)

होरिया रँग खेलत आश्रो।
इला पिंगला सुख मणि नारी ता संग खेल खिलाओ॥
सुरत पिचकारी चलाश्रो।
काचो रंग जगत को छाँड़ो साँचो रंग लगाओ।
बाहर भूल कबौं मत जाश्रो काया-नगर बसाश्रो॥
तबै निरभै पद पाश्रो।
पाँचौ उलट धरे घर भीतर अनहद नाद बाजाश्रो।
सब बकवाद दूर तज दीजै ज्ञान-गोत नित गाश्रो॥
पिया के मन तब ही भाश्रो।
तीनो ताप तीन गुण त्यागो, संसा सोक नसाश्रो।
कहै प्रतापकुँवरि हित चित सों फेर जनम नहिं पाश्रो॥
जोत में जोत मिलाश्रो।

(२)

होरी खेलन की रुत भारी।
नर-तन पाय अरे भज हरि को-मास एक दिन चारी।

अरे अब चेत अनारी।
ज्ञान-गुलाल अबीर प्रेम करि, प्रीत तणी पिचकारी।
लास उसास राम रँग भर-भर सुरत सरीरी नारी॥
खेल इन संग रचा री।
उलटो खेल सकल जग खेलै उलटो खेलै खिलारी।
सतगुरु सीख धार सिर ऊपर सतसंगत चल जारी॥
भरम सब दूर गुपारी।
ध्रुव प्रह्लाद विभीषण खेले मीरा करमा नारी।
कहै प्रतापकुँवरि इमि खेलै सो नहिं आवै हारी॥
साख सुन लीजै अनारी॥

(२)

आस तो काहू की नहिं मिटि जग में भये रावण से बड़ जोधा।
साँवत सूर सुयोधन से बल से नल से रत बांदि बिरोधा॥
केते भये नहिं जाय बखानत जूझ मुये सब ही करि क्रोधा।
आस मिटे परताप कहै हरि-नाम जपेरू बिचारत बोधा॥

श्रीमतीजी ने ज्ञानसागर, ज्ञानप्रकाश, प्रताप-पचीसी, प्रेम-सागर, रामचन्द्र-नाम-महिमा, रामगुण-सागर, रघुवर-स्नेह-लीला, रामप्रेमसुख-सागर, राम-सुजस-पचीसी आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है। उनकी एक विशेषता यह है कि उन्होंने अन्य पूर्ववर्ती महिला-कवियों की तरह न तो श्रीकृष्ण को अपना आराध्य देव

बनाया और न अपनी कविता का विषय हीं। आपकी रा
मयी रचनाएँ देखिए:—

(१)

धर ध्यान रटो रघुबीर सदा धनुधारी का ध्यान हिये धर रे।
पर पीर में जाय कै बेग परो करले सुभ सुकृत को कर रे॥
तर रे भवसागर को भक्ति कै लाज, कै अघ-औगुण ते डर रे।
परताप कुमारि कहै पद-पंकज पाव घरो मत बीसर रे॥

(२)

अवधपुर घुमड़ि घटा रही छाय।
चलत सुमंद पवन पुरवाई नव घनघोर मचाय॥
दादुर मोर पपीहा बोलत दामिनि दमकि दुराय।
भूमि निकुंज सघन तरुवर में लता रही लिपटाय॥
सरजू उमगत लेत हिलोरें निरखत सिय रघुराय।
कहत प्रतापकुँवरि हरि ऊपर बारबार बलि जाय॥



बाघेली विष्णुप्रसाद कुंवरि ❀

प्रताप कुँवरिबाई के समय के आस-पास कुछ अन्य देवियों ने भी हिन्दी में पद्य-रचना की है। किन्तु उनकी कृतियाँ इस योग्य नहीं हैं कि उन पर विशेष ध्यान दिया जा सके। वास्तव में इस काल में पुरुष कवियों ने भी कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखाया, स्त्री कवियों की कौन कहे। पुरुष-कवियों में वैरीसाल, किशोर, दत्त, रतन, ब्रजवासीदास, गोकुलनाथ, गोपीनाथ, मणिदेव, तीर्थराज, बोधा, पद्माकर, रघुराजसिंह और द्विजदेव ने लगभग इसी समय में की। इस कवि-मण्डली में पद्माकर, रघुराजसिंह और द्विजदेव को छोड़कर शेष में साधारण कोटि ही की कवित्त्व-शक्ति देख पड़ती है। पद्माकर का पद-लालित्य और भाषा-प्रवाह भले ही रघुराजसिंह में न हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि रघुराजसिंह भी अच्छे कवि थे। इन्हीं कवि की पुत्री श्रीमती बाघेली विष्णु-प्रसाद कुँवरि थीं।

बाघेली विष्णुप्रसाद कुँवरि का जन्म संवत् १९०३ में हुआ। अठारह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह महाराज श्रीजसवंतसिंह के छोटे भाई किशोरसिंह से हुआ। संवत् १९५५ में किशोरसिंह का स्वर्गवास हो गया। इस देवी ने 'अवध-विलास' 'कृष्णविलास' और 'राधा-विलास' नामक ग्रंथों की रचना की। इनकी नायिका-नायक-सृष्टि-कला का अवलोकन निम्नलिखित पद्यों में कीजिये:—

(१)

क्यों वृथा दोष पिय को लगावत।
तो हित चन्द्रमुखी चातक बनि परसन कूँ नित चाहत॥
हैं बहु नारि रसीली ब्रज में वातो तुम कोइ चाहत।
तो हित वृन्दावन राधे सब सखियन रास दिखावत॥
तेरो रूप हिये में धारत नित निरखत सुख पावत।
विष्णुकुँवरि राधे तव चरननि हाथ जोड़ि सिर नावत॥

(२)

छोड़ि कुल कानि और आनि गुरुलोगन की,
जीवन सु एक निज जाति हित मानी है।
दरस उपासी प्रेम-रस की पियासी वाके,
पद की सुदासी दया-दीठि की बिकानी है॥
श्रीमुख-मयंक की चकोरी ये सुखोरी बीच,
ब्रज की फिरति है हूँ भोरी दुख सानी है।

जिन्हें अतिमानी घस-पुतरी सो जानी,
हम सों ते रारि ठानी अब कूबरो मिठानी है ॥

(३)

नैन कू प्यारे करि रख्यो श्याम ।
प्यारी के वारने जाउ मैं नैन सों मेरो काम ।
ब्रजसुन्दरी कहौ मेरी मानो प्राण ते प्यारी धाम ॥
छैल की प्यारी सुनो राधेरानी तुम्हें देख नहिं काम ।
विष्णुकुँवारि रीझि पिय बोली छोड़ नैन के नाम ॥

(४)

वृन्दावन-पावस छायो ।
चहूँ दिसि कारे अम्बर छाये नीलमणी प्रिय सुख छायो ॥
कोयल कूक सुमन कोमल के कालिंदि कूल सुहायो ।
विष्णुकुँवरि जग श्याम रँग छायो श्यामहि सिंधु समायो ॥

(५)

सुन्दर सुरंग अंग अंग पै अनंग वारो,
जाके पद-पंकज में पंकज दुखारो है ।
पीत पटवारो मुख मुरली सँवारो प्यारो,
कुण्डल झलक मुख मोर पंख धारो है ॥
कोटिन सुधाकर को सुखमा सुहात जाके,
मुख मौं लुभातो रमा रंभा सी हजारो है ।

नन्द को दुलारो श्रीयशोदा को पियारो,
जौन भक्त सुख सारो सो हमारो रखवारो है॥

(६)

निरमोही कैसो जिय तरसावै।
पहले झलक दिखाय हमैं कूँ अब क्यों बेगि न आवै।
कब सों तलफत मैं री सजनी वाको दरद न आवै।
विष्णुकुँवारि दिल में आ करके ऐसो पीर मिटावै॥

(७)

अवै मन जाओ प्राण-पियारे।
तुम्हें देख मन भयो उमँग में मेरो चित्त चुरायो रे॥
कहा कहूँ या छबि बलिहारी नैनन में ठहरायो रे।
विष्णुकुँवारि पकड़ि चरनन को बरबस हृदय लगायो रे॥

(८)

बाजै री बँसुरिया मनभावन की।
तुम हो रसिक रसीली बंशी अति सुन्दर या मन की।
या मुख ले वाको रस पीवे अंग अग सुख या तन की॥
या मुख की मैं दासि चरन रज दोउ सुख उपजावन की।
शोभा निरखत सखी सबै मिलि विष्णु कुंवरि सुख पावन की॥

(९)

रूप परस्पर दोऊ लुभाने।
नैन बैन सब मोहि रहे हैं सब हैं हाथ बिकाने।

अधिक पिया प्यारी की छवि पर करत न कछु अनुमाने ॥
प्रिया हुलस प्रीतम-अग लागे बहुत उचक ललचाने ।
विष्णुकुंवरि सखियाँ सब बोलीं मन मेरो उमगाने ॥

(१०)

श्याम सों होरी खेलन आई ।
रंग गुलाल की झोरि लिये सब नवला सज-सज आई ।
बाके नैन चपल चल रीझै प्रियतम पै टकटकी लगाई ॥
होड़ी-होड़ी देखा-देखा होरी की रँग छाई ।
उतै सखन सँग आय बिराजे सुन्दर त्रिभुवनराई ॥
इतै सखिन सँग होरी खेलन राधेजू चलि आई ।
बारम्बार अबीर उड़ावै डार कृष्ण अँग धाई ॥
दाऊजी पिचकारि चलावै सुन्दरि मारि हटाई ।
मधुर मधुर मुसुकात आय पकड़े हलधर को भाई ॥
राधेजू के नवल बदन से साड़ी देय हटाई ।
निरखि अनूपम होरी खेलन सब ही हँसे ठठाई ॥
विष्णुकुँवरि सखियाँ सब छोड़ीं हलधर भे सुखदाई ।



चन्द्रकला   

चन्द्रकला बाई बूँदी के कवि और दीवान कविराज राव गुलाब-सिंह की दासी की पुत्री थीं। स्वयं चन्द्रकलाजी ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

> बरस पंच-दस की बय मेरी।
> कबि गुलाब की हूँ मैं चेरी॥
> बालहिं ते कबि-संगति पाई।
> ताते तुक जोरन मोहिं आई॥

बाईजी का जन्म लगभग संवत् १९२३ में हुआ। इन्होंने अपने समय में सामयिक पत्रों में समस्या-पूर्त्तियाँ करने में विशेष भाग लिया। इनके सम्बन्ध में एक रोचक प्रसंग उल्लेख-योग्य है। उन्हीं दिनों बलदेवप्रसाद अवस्थी नाम के एक कवि अवध के राजा प्रताप बहादुरसिंह के यहाँ राजकवि के रूप में रहते थे। इनकी भी समस्या-पूर्त्तियाँ बड़ी टकसाली होती थीं। चन्द्रकलाजी पर बलदेव जी की कवित्त्व-शक्ति का बड़ा प्रभाव पड़ा और उन्होंने उनसे पत्र-

व्यवहार करके बूँदी आने के लिए निमंत्रित किया। पत्र के साथ उन्होंने निम्नलिखित सवैया भी लिख भेजी थी:—

> दीन-दयाल दया कै मिलो,
>
> दरसे बिनु बीतत हैं सबै मोचन।
>
> सुद्ध सतोगुण ही के मने ते,
>
> बिसंकित सूल सनेह सकोचन॥
>
> तोरि दियो तरु धीर-कगार के,
>
> ह्वै सरिता मनो बारि बिमोचन।
>
> चन्द्रकला के बने बलदेवजी,
>
> बावरे से महा लालची लोचन॥

बलदेवजी बूँदी तो नहीं जा सके, किन्तु उन्होंने चन्द्रकला के प्रति अपना स्नेह प्रकट करने के लिए चन्द्रकला नाम की एक पुस्तक ही की रचना कर डाली। उसमें प्रत्येक पद्य के अंत में अवश्य चन्द्रकला शब्द का प्रयोग किया। नमूने के रूप में एक पद्य देखिए:—

> कहा ह्वै है कछू नहिं जानि परै सब [illegible]।
>
> उतै बीथिन मैं बलदेव अचानक [illegible]॥
>
> हँसि कै गे अयान दया न दई [illegible]।
>
> चले कौन ये जात लिये मन [illegible]

चन्द्रकलाजी के [illegible] देखी जाती है, जिसका [illegible]

कवियों द्वारा शताब्दियों पहले निर्मित हुआ था और
उस समय भी प्रभाव था। बाईजी का राधिका का
देखिए:—

(१)

एहो ब्रजराज कत बैठे हौ निकुंज माँहि,
कीन्हीं तुम मान ताकी सुधि कछु पाई है।
ताते वृषभानुजा सिंगार साजि नीकी भाँति,
सखियाँ सयानी संग लेय सुखदाई है॥
'चन्द्रकला' लाल अवलोको और मारग को,
भारी भय-दायिनी अपार भीर छाई है।
रावरो गुमान अति बल अति भट मानि,
जोबन की फौज लैके मारिबे को धाई है।

(२)

नेकौ एक केश की न समता सुकेशी लहै,
नैनन के आगे लागै कमल रुमालची।
तिल सी तिलोत्तमाहू रति हू रती सी लगै,
मनमुख ठाढ़ रहै लाल हित लालची॥
'चन्द्रकला' दान आगे दीन कल्पवृक्ष लागै,
वैभव के आगे लागै इन्द्रहू कुदालची।
धन्य धन्य राधे वृषभानु को दुलारी तोहिं,
जाके रूप आगे लगै चन्द्रमा मसालची॥

(३)

बैठे हैं गुपाल लाल प्यारी वर बालन में,
करत कलोल महा मोद मन भरिगे।
ताही समै आली राधिका को दूरही तें देखि,
सौतिन के सकल गुमान गुन जरिगे ॥
'चन्द्रकला' सारस से तिरछी चितौनिवारे,
नैन अनियारे नैकु पी की ओर ढरिगे।
नेह नहँ नायक के ऊपर ततच्छन हीं,
तीच्छन मनोभव के पाँचो बान झरिगे ॥

(४)

ध्यान धरै तुम्हरो निसिबासर नाम तुम्हार रटै बिसरै ना।
गावत है गुन प्रेम-पगी मन जोवत है छिन दीठि टरै ना ॥
'चन्द्रकला' वृषभानु-सुता अति छीन भई तन देखि परै ना।
बेगि चलो न बिलंब करो अति व्याकुल है वह धीर धरै ना ॥

बाईजी का कृष्ण का वर्णन भी उसी कोटि का है। नीचे के पद्यों में देखिए:—

(१)

राति कहीं रमि कै प्रभात प्रान-प्यारी पास,
आये घनस्याम स्याम सारी धारि आन की।

अधर अनूप माँहिं काजर की रेख धारि,
लाल लाल लोचन पै लाली पीक-पान की॥
'चन्द्रकला' द्विकल कलाधर अनेक धरे,
लखि उर गाढ़ बोली बेटी वृषभानु की।
इन्द्रजाल डाली गल घाली कौन बाल आज,
आउन रसाल लाल माल मुकतान की॥

(२)

बिन अपराध मनमोहन को दोष थापि,
काहे मनमान धारि प्यारी दुख पावै है।
चलि री निकुंज माहिं मिलि री पिया सों बेगि,
मन बच काम लाय तो ही धरि ध्यावै है।
'चन्द्रकला' तेरे ही सनेह सने एक पाय
ठाढ़े ह्वै जमुना तीर पीर सरसावै है।
लै लै नाम तेरो ही बखाने तोहिं प्रान प्यारी,
सुनि री गुपाल लाल बाँसुरी बजावै है॥

(३)

नटवर बेप साजि मदन लजाने लाल,
मन हरि लीनो हाल नारिन के जाल को।
अमित स्वरूप धारि नखसिख सोभा साजी,
राख्यो गहि हाथ हाथ भिन्न भिन्न बाल को॥

'चन्द्रकला' गाय गीत अमत सनेह सने,

बरनत नारदादि जस जनपाल को।

सुमन समूह बरसावत बिमान चढ़े,

देखि देखि देव रासमण्डल गोपाल को॥

संवत् १९६० में बाईजी स्वर्गलोक को सिधार गयीं।



गिरिराज कुंवरि 

गिरिराज कुँवरि रियासत भरतपुर की राजमाता थीं। इ
का जन्म संवत् १६२० में हुआ। आपने "श्रीव्रजरा
विलास' नामक ग्रंथ की रचना की। उसकी भूमिका में आ
जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे परिचित होकर हमें विशेष प्रसन्न
हुई। आपने लिखा है:—

"स्त्री का सांसारिक देव पति और पारमार्थिक श्री गोप
महाराज हैं। इन्हीं दोनों को प्रसन्न करने में स्त्री को इस (गा
विद्या में भी निपुण होना चाहिये।"

कृष्ण-काव्य करनेवाली अनेक देवियों की कविताओं
परिचय हम पिछले पृष्ठों में दे चुके हैं; यत्र-तत्र हमने इस बात
खेद प्रकट किया है कि काव्य-रचना करते समय देवियों ने ब
पुरुषों की तरह लज्जाहीनता से काम लिया। श्रीमती गिरिर
कुँवरि ने भी कृष्ण-काव्य ही किया है, परन्तु उनकी रचना में

वालापन नहीं दिखायी पड़ता, जो विचारों का अंकुश न पाने पर छृङ्खलता के रूप में परिणत हो जाता है। फिर भी श्रीकृष्ण को पी अथवा अन्य किसी स्त्री का पारमार्थिक पति मानकर उस न्बन्ध को सांसारिक व्यवहारों की भाषा में प्रकट करने में भी खतरा रहता है उससे स्वभावतः श्रीमतीजी की लेखनी भी हीं बचसकी है। उदाहरण के लिए नीचे का पद्य देखिये:—

बंसी बज रही तनक तनक में, नथ मेरी टूट गई झगरे में।
मैं दधि बेचन जात वृन्दावन, रोक लई डगरे में॥
दधि मेरो खाय मटुकिया फोरी, अरी वाके खपरा परे नरे में।
टुलरी तोर चूँदरा झटकी, अरी वाने डारी बाँह गरे में॥
अब व्रजपति हँसि बात बनावै, डारत नोन जरे में॥

किन्तु यदि हम श्रीमतीजी के 'कृष्ण' का पूरा परिचय ायँ तो उनके काव्य की अलौकिकता सहज ही हम पर अपना भाव डाल दे। जिन श्री कृष्ण के

मोर मुकुट शिर पेच कलंगी सजत झुमका कानन में।
नैन विशाल कुटिल भृकुटी छबि छाय रही अति आनन में॥
तेज लसै मुख ऊपर जितनों इतनो नहिं शत भानन में।
नके प्रेम-रस में मग्न होकर गोपिका क्यों न इस प्रकार कहे:—

(१)

दरशन की लगी आस अब मैं कहाँ जाऊँ।
महल तिवारे मोय न चहिये, टूटी झुपरियां वास॥

श्रीजुगलप्रिया



श्रीमती . महारानी कमलकुमारी उपनाम श्री 'जुगलप्रिया' क . जन्म संवत् १९२८ में ओड़छे के महाराज श्रीमान् महेन्द्र महाराज प्रतापसिंहजू देव बहादुर के यहाँ हुआ। इनकी माता श्रीमती वृपभानुकुँवरि देवी बड़ी कृष्ण-भक्त थीं। माता के प्रभाव से श्रीमती कमलकुमारी में भी भक्ति-भावों का विकास हुआ। स्वभावतः आपने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्ण को अपनी कविता का विषय बनाया है। यह हर्ष की बात है कि श्री जुगलप्रिया अधिकांश में कृष्ण-काव्य करके भी उसके प्रचारक अन्य कवियों की दुर्बलताओं से दूर रही हैं। श्रीमतीजी की श्रीकृष्ण-प्रेम से पूर्ण कु कविताएँ नीचे देखिए:—

(१)

राधा चरन की हूँ सरन।

छत्र चक्र सुपद्म राजत सुफल मनसा करन॥

ऊर्ध्व रेखा जव धुजादुति सकल सोभा धरन।
मंजु पद गज-गति सु कुंडल मीन सुबरन बरन॥
अष्ट कोन सुवेदिका रथ प्रेम आनँदभरन।
कमल-पद के आसरे नित रहत राधा-रमन॥
काम-दुख संताप-भंजन बिरह-सागर तरन।
कलित कोमल सुभग सीतल हरत जिय की जरन॥
जयति जय नव नागरी पद सकल भव-भयहरन।
जुगल प्यारी नैन निरमल होत लखि लखि किरन॥

(२)

जुगल-छवि कब नैनन में आवै।
मोर मुकुट की लटक चन्द्रिका मटकारो लट भावै॥
गर गुंजा गजरा फूलन के फूल से बैन सुनावै।
नील दुकूल पीत पट भूषण मनभावन दरसावै॥
कटि किंकिनि कंकन कर कमलनि कनित मधुर धुनि छावै।
'जुगल प्रिया' पद-पदुम परसि कै अनत नहीं मधुपावै॥

(३)

माई मोकों जुगल नाम निधि भाई।
सुख संपदा जगत की झूठी आई संग न जाई॥
लोभी को धन काम न आवै अंतकाल दुखदाई।
जो जोरे धन अधम करम तें सयंम चलै नसाई॥

कुल के धरम कहा लौ कीजे भति न मन में आई।
'जुगलप्रिया' सब तजौ भजौ हरि चरन-कमल मन लाई॥

(४)

दग तुम चपलता तजि देहु।
गुञ्जरहु चरनारविन्दनि होय मधुप सनेहु॥
दसहुँ दिसि जित तित फिरहु किन सकल जग रस लेहु।
पै न मिलिहै अमित सुख कहुँ जो मिलै या गेहु॥
गहौ प्रीति प्रतीति दृढ़ ज्यों रटत चातक मेहु।
बनो चारु चकोर पिय मुख-चन्द छवि रस एहु॥

श्रीमतीजी ने शृंगार रस की भी कुछ हृदय-स्पर्शिनी कविता लिखी हैं। इनके भी कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं:—

(१)

प्रीतम रूप दिखाय लुभावै।
यातें जियरा अति अकुलावै॥
जो कीजत सो तौ भल कीजत अब काहे तरसावै।
सीखी कहाँ निठुरता एतो दीपक पीर न लावै॥
गिरि के मरत पतंग जोति है ऐसेहु खेल सुहावै।
सुन लीजै बेदरद मोहना जिनि अब मोहिं सतावै॥
हमरी हाय बुरी या जग में जिन बिरहागि जरावै।
'जुगलप्रिया' मिलि यो अनमिलिबो एकहि भाँति सतावै॥

(२)

बाँकी तेरी चाल सुचितवनि बाँकी।
जब हीं आवत जिहि मारग ही झुमक झुमक झुकि झाँकी॥
छिप छिप जात न आवत सन्मुख लखि लौनी छवि छाकी।
'जुगल प्रिया' तेरे छल-बल तें हौं सब ही बिधि थाकी॥

(३)

नैन मोहन रूप छकेरी।
सेत स्याम रतनारे प्यारे ललित सलोने रँग रँगे री॥
बाँको चितवनि चंचल तारे मनो कंज पै खंज अरे री।
'जुगल प्रिया' जाके उर भाये अधिक बावरे सोई भये री।

(४)

सखी मेरी नैननि नींद दुरी।
पिय सों नहिं मेरो बस कछु री,
तलफि तलफि यों ही निसि बीतति नीर बिना मछुरी॥
उड़ि उड़ि जात प्रान-पंछी तहँ बजत जहाँ बँसुरी।
'जुगल-प्रिया' पिया कैसे पाऊँ प्रगट सुप्रीति जुरी॥

(५)

नैन सलौने खंजन मीन।
चंचल तारे अति अनियारे, मनवारे रसलीन॥

सेत स्याम रतनारे बाँके, कजरारे रँग मीन।
रेसम डोरे ललित लजीले, ढीले प्रेम अधीन॥
अलसौंहैं तिर छौंहैं भौंहैं नागरि नारि नवीन।
'जुगुल प्रिया' चितवनि में घायल ह्वै छिन-छिन छीन॥

श्रीमतीजी केवल भक्त और कवि ही नहीं, किन्तु
आदर करने तथा उसके विकास में सहायता
दर्शिनी देवी भी थीं। आपके इसी गुण की उपज
प्रसाद द्विवेदी हैं, जिन्हें हिन्दी-संसार अधिकतर
के रूप में जानता है। श्रीयुत हरिजी देवीजी को अपने
रूप में मानते हैं। देवीजी का देहावसान ओड़छे में संवत् १९७८
हुआ। इनके देहान्त के बाद ही हरिजी ने अपने नाम के सा
'वियोगी' शब्द जोड़ा। अत्यन्त हृदय-स्पर्शी शब्दों में उन्होंने नि
लिखित पद्यों में इस प्रसंग की चर्चा की है:—

धरायो तबहि वियोगी नाम।
जा दिन ते गुरुचरन चन्द्र नख अथये ललित ललाम।
ता दिन ते हौं विकल बावरो बसत विरह के गाम।

रामप्रिया

श्रीमती महारानी रघुराजकुँवरि का, जिनका उपनाम 'रामप्रिया' था, जन्म लगभग संवत् १९४० में और विवाह प्रतापगढ़ के राजा सर प्रतापबहादुरसिंह के साथ हुआ था। आप ने 'रामप्रिया-विलास' नामक पद्य-पुस्तक की रचना की और कविता का विषय श्रीराधा-कृष्ण को नहीं, श्रीसीता-रामचन्द्र को बनाया। सीता का चित्रण निम्नांकित पद्यों में देखिए:—

(१)

मृग-मन हारे मीन खंजन निहारि वारे,
प्यारे रतनारे कजरारे अनियारे हैं।
पैन सर धारे कारी भृकुटि धनुष-वारे,
सुठि सुकुमारे शोभा सुभग सुढारे हैं॥
कैधौं हैं जलज कारे कैधौं ये त्रिगुण युक्त,
चन्द्रमा पै चंचला के चपल सितारे हैं।

'राम प्रिया' राममन-रमन अँगारे कैधौं,
जनक-किशोरी याँके लोचन तिहारे हैं॥

(२)

सिय-मुख चंद त्याग दूजो चन्द मंद कहाँ,
कौन गुण जानि समता मैं अवलोकों मैं।
मुख अकलंकी सकलंकी तू प्रसिद्ध जग,
कहि समझाऊँ कैसे याको जाय रोकों मैं॥
दिवा द्युति-हीन घन समय मलीन-खीन,
'राम प्रिया' जानै तोहि जन सब लोकों मैं।
लली-मुख लालिमा गुलाल सों लखात जैसे,
तैसी दरसावो तो सराहौं तब तोकों मैं॥

(३)

किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन के,
बिकसे प्रसूनन मलिन्द छवि धावै री।
बेली बाग बीथिन बसंत की बहारैं देखि,
'रामप्रिया' सियाराम सुख उपजावै री॥
जनक-किशोरी युगकर तें गुलाल रोरी,
कीन्हे बरजोरी प्यारे मुख पै लगावै री।
मानों रूप-सर ते निकसि अरविन्द युग,
निकसि मयंक मकरंद धरि लावै री॥

जनक के धनुष-यज्ञ में श्रीरामचन्द्र के पहुँचने और आसन पर आसीन होने के समय की शोभा का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है:—

> हरषित अंग भरे हृदय उमंग भरे,
> रघुवर आयौ मुद चारों दिसि ह्वै गयो।
> सुन्दर सलोने सुभ्र सुखद सिंहासन पै,
> जनक सप्रेम जाय आसन जबै दयो॥
> 'रामप्रिया' जानकी को देखत अनूप सुख,
> पंकज कुमुद सम दूजे नृप ह्वै गयो।
> मानों मणि-मंडित शिखर पै सर्यक तापै,
> मंजु दिनकर प्रात प्राची सो उदै भयो॥

प्रसंगवश श्रीमतीजी ने शंकर का भी वर्णन किया है। निम्न-लिखित कवित्त देखिए:—

> नंगा अरधंगा शीश-गंगा चन्द्रभालवारो,
> बैल पै सवार विष-भोजन करयो करै।
> कपाल-मुंड-माल प्रेम-डमरू त्रिशूल-धारी,
> महा विकराल चिता-भसम धरयो करै॥
> योग-रंग-रंगा चारु चाखत धतूर भंगा,
> अद्भुत कुढंगा देखि बालक डरयो करै।
> 'रामप्रिया' अजब तमासे चलु देखु-देखु,
> ऐसो एक योगी राम-पायन परयो करै॥

रानी रघुवंशकुमारी ⚜

श्रीमती रघुवंशकुमारी का जन्म संवत् १९२५ ज्येष्ठ
सप्तमी को भगवानपुराधीश राजा सूर्यभानुसिंह
यहाँ हुआ। आपका विवाह सुलतानपुर ज़िले में दियरा नामक
राज्य के अधिपति राजा रुद्रप्रतापसाहि से हुआ। अवधेन्द्र प्रता
साहि, कोशलेन्द्रप्रतापसाहि तथा सुरेन्द्रप्रतापसाहि नाम के ती
पुत्र-रत्न आप को प्राप्त हैं। आजकल, सास और पति से वि
होने पर, आप राजमाता दियरा कही जाती हैं।

रानी रघुवंशकुमारी की प्रवृत्ति कविता की ओर बाल्याव
ही से रही है। अनुकूल परिस्थितियों में आपकी रचना-समर्थ
शक्तियों को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला। का
भामिनी-विलास वनिता-बुद्धि-विलास, तथा सूपशास्त्र नामक ग्रं
ग्रंथों की रचना की है। इनकी कविता में एक विशेषता है। लगभ
वैसी ही, जैसी मामती गिरिराजकुँवरि की कविता में है। ग्रंथ

गिरिराजकुँवरि की कविता में हमने उनके इस मत का उल्लेख किया था कि वे पति को स्त्री का सांसारिक और श्रीकृष्ण को पारमार्थिक देव मानती थीं। रानी रघुवंशकुमारी पति को इहलोक और परलोक दोनों की सिद्धि का साधन मानती थीं। वास्तव में साधारण शक्ति-सम्पन्न हमारे समाज को रानी रघुवंशकुमारी द्वारा प्रदर्शित आदर्श ही ग्रहण करना अधिक श्रेयस्कर होगा। निम्नलिखित पद्यों में रानी महोदया के पति-भक्ति-पूर्ण विचार देखिए:—

(१)

पग दाबे ते जीवन मुक्ति लही।
विष्णुपदी सम पति-पदपंकज छुवत परमपद होवे सही॥
निरखि निरखि मुख अति सुख पावत प्रेम समुद के धार बही।
रिद्धि सिद्धि सकल सुख देवें सो लक्ष्मी पद हरि के गही॥
जहाँ पति-प्रीति तहाँ सुख सरबस यही बात स्रुति साँच कही।

(२)

पिय चलती बेरियाँ, कछु न कहे समझाय।
तन दुख मन दुख, नैन दुख हिय भे दुख की खान।
मानो कबहूँ ना रही, वह सुख से पहचान॥
मन में बालम बस रहा, जनम न छोड़ति पाय।
बिछुड़न लिखा लिलार में, तासों कहा बसाय॥
बालम बिछुड़न कठिन है करक करेजे हाय।

तीर लगे निकसे नहीं, जब लौं प्रान न जाय॥
जगन्नाथ के सिंधु में, डोंगी की गति जोय।
तास मति पिय के विरह में, हाय हमारी होय॥

(३)

पिय के पदकंजन-राती।
विष्णु विरंचि संभु सम पति में छिन छिन प्रेम लगाती।
तन मन वचन छांड़ि छल भामिनि पति सेवन बहु भाँती॥
कबहुँ नहिं प्रीति सुनाती।
पिय के० ॥
दासीसम सेवति जननीसम खान पान सब लाती।
सखिसम केलि करत निसिवासर भगिनी सम समझाती॥
बंधु सम संग-सँगाती।
पिय के० ॥
प्रिय पति विरह अमरपुरहू में रहति सदा अकुलाती।
पतिसँग सघन बिपिन को रहिबो सेवन रस मदमाती॥
हृदय मानहि बहु भाँती।
पिय के० ।
नाहिन द्वार रहति नहि परघर एकाकिन कहि जाती
मूँदति नैन ध्यान उर आनति, 'गुनवति' पति गुन गाती।
नहिं मन मोद समाती।
पिय के० ॥

(४)

फिरै चारिहु धाम करै मन कोटि कहा बहु तीरथ तोय पिये तें।
जप होम करै अनगंत कछू न सरै नित गंग नहान किये तें॥
कहा धेनु को दान सहस्त्रन बार तुला गज हेम करोर दिये तें।
'रघुवंशकुमारी' वृथा सब है जब लौं पति सेवै न नारि हिये तें॥

रानी साहब के कुछ अन्य फुटकर छन्द भी देखिए:—

(१)

जेहि के बल संकर सुद्ध हिये धरि ध्यान सदाहिं जपैं गुन गाम।
जेहि के बल गीध अजामिल हूँ सेवरी अति नीच गई सुरधाम॥
जेहि के बल देह न गेह कछू बसुधा बस कीनों सबै सुर-काम।
धनु बान लिये तुम श्रौठहु जाम अहो श्रीराम बसौ उर-धाम॥

(२)

सीतल मन्द सुगंध समीर लगे जिमि सज्जन की प्रिय बानी।
फूलि रहे बन-बाग समूह लहै जिमि कीर्ति गुणाकर ज्ञानी॥
नीक नवीन सुपल्लव सोह बढ़ै जिमि प्रीति के स्वारथ जानी।
गान रै कल कीर चकोर बढ़ै जिमि विप्र सुमंगल बानी॥

(३)

कहत पुकार कोइलिया हे ऋतुराज।
न्याय-दृष्टि से देखहु विपिन-समाज॥

सोना सम्पति काज त्यागि सब साज।
भये उदासी बिरिया, बिसरा लाज॥
ध्यान करहु इत श्रव सुध कम नहि लेत।
तीछन बहत बयरिया करत अचेत॥



सरस्वती देवी  

श्रीमती सरस्वती देवी का जन्म १ पौष कृष्ण संवत् १९३२ में हुआ था। इन्होंने निम्नलिखित दोहों द्वारा अपना परिचय अपने ही शब्दों में इस प्रकार दिया है:—

जिला जु आजमगढ़ अहै ता महँ एक विचित्र।
ग्राम कोइरियापार के कवि द्विज रामचरित्र॥
ताको कन्या एक मैं मूर्त्ति मूर्खता केरि।
कुलवंतिन-पद धूरि अस गुणवंतिन की चेरि॥
मम शिक्षक कोउ और नहिं निज ही पिता सुजान
कठिन परिश्रम करि दियो विद्या-दान महान॥
प्रथम पढ़ायो व्याकरण पुनि कछु काव्य-विचार।
तदनन्तर सिखयो गणित बहुरि सुरीति प्रकार॥
तब कछु उर्दू फारसी बँगला वर्ण सिखाय।
कछु अँगरेजी अक्षरन पितु मोहिं दीन्ह दिखाय॥

जब लगि मैं मैके रहौं लिखन पढ़त रहि नित।
अब घर पर परवस परी रहि नहिं सकत सुचित॥

महाकवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का कहना है कि ये सहृदया हैं और सरस रचना करती हैं तथा इनकी रचनाएँ अत्यन्त मधुर और हृदयग्राहिणी हैं, सरस्वती देवीजी ने अपनी कविता द्वारा स्त्रियों को सदुपदेश देने की चेष्टा की है। उनके निम्नलिखित पद्य देखिए:—

(१)

सज्जन सम्बन्धी जे सुमति के तिहारे होहिं,
तिन्हैं अपनाओ चतुराई लिये हाथ में।
नम्रता बड़न माँहिं मित्रता सुनारिन सों,
शत्रु-भाव राखिये कुनारिन के साथ में॥
भाखिये सुबैन दास-दासिन सों प्रेम-सँग,
धारिये सुध्यान सदा शुभ गुण-गाथ में।
सारिये सकल गृह-काज सुघराई साथ,
वारिये पवित्र प्रीति पति प्राणनाथ में॥

(२)

भूषण दुचार एक बार एक ठौर पैन्ह,
पैन्हहु सुजानि यामें हानि अति भारी है।
घूँघुरू औ झाँझ आदि बजती बिशेष छुड़े,
छमा छम शब्द जासों सब गुन जारी हैं॥

ध्यान हू न होय जाको तव प्रीति ताकी दीठि,
फेरिबे की पूरी अधिकारी भनकारी है ।
करहु कदापि अङ्गीकार ये सिंगार नाहिँ,
पतिव्रत-धारी सुनो विनय हमारी है ॥

(३)

नारी-धर्म अनेक हैं, कहौं कहाँ लगि सोय ।
करहु सुबुद्धि विचार ते, तजहु जु अनुचित होय ॥
हानि लाभ निज सोचि कै, काजहि होहु प्रवृत्त ।
सुख पायहु तिहुँ लोक में, यश बाढ़ै नित नित्त ॥

नीचे के पद्य में अंकित मानिनी राधा का चित्र कितना मनोहर है :—

ऐसी नहीं हम खेलनहार बिना रस रीति करें बरजोरी ।
चाहै तजौ तजि मान कही फिरि जाहिं घरे वृषभानु-किशोरी ॥
चूक भई हम से तो दया करि नेकु लखो सखियान की ओरी ।
ठाढ़ी अहै मन-मारि सबै बिन तोहि बनै नहिं खेलत होरी ॥



द्वितीय भाग



राजरानी देवी  

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी-काव्याकाश में एक नवीन नक्षत्र का उदय हुआ, जिसने तमसाच्छन्न हिन्दी-साहित्य-जगत् को एक नवीन आभा प्रदान की। यह नक्षत्र हरिश्चन्द्र के रूप में प्रकट हुआ और उस समय उसने जो आलोक उपहार-रूप में प्रस्तुत किया, वह इतना व्यापक, विमल और हृदय-कुमुद-रंजक सिद्ध हुआ कि प्रेमियों ने उसे 'भारतेन्दु' की उपाधि दे डाली। भारतेन्दु ने जो नवीन प्रकाश दिया, जिस नवीन सन्देश को घोषणा की, वह था देश-प्रेम। प्रेम विषय पर कविता करके उन्होंने अपना सम्बन्ध जैसे प्राचीनों से जोड़ रक्खा था, वैसे ही देश-भक्ति विषयक हृदय-द्रावक कविताएँ लिखकर उन्होंने सामयिक सामाजिक परिस्थिति से भी अपना नाता निबाहा। प्रस्तुत शताब्दी की जिन अन्य देवियों का उल्लेख हम पहले कर आये हैं उन तक हरिश्चन्द्र के इस संदेश की लहर नहीं पहुँच सकी थी; इस सन्देश

को सर्वप्रथम हृदयंगम करने का श्रेय श्रीमती राजरानी देवी ही को मिलना चाहिए।

श्रीमती राजरानी देवी ने मध्यप्रान्त के नरसिंहपुर ज़िले में पिपरिया नाम के गाँव में, संवत् १९२७ में, जन्म ग्रहण किया। [illegible] वर्ष की अवस्था में, आपका विवाह श्रीयुत लक्ष्मीप्रसाद वर्म्मा के साथ हुआ। देवीजी के नौ पुत्र तथा चार कन्याएँ हैं; प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी अध्यापक बाबू रामकुमार वर्म्मा एम० ए० आप ही के सुपुत्र हैं। देवीजी ने 'प्रमदा-प्रमोद' और 'सती-संयुक्ता' नामक दो पुस्तकें लिखी हैं। नीचे के पद्यों में, जो 'सती-संयुक्ता' से लिये गये हैं, आप देवीजी के देश-भक्ति विषयक उद्गारों को देखिए:—

(१)

देवियो! क्या पतन अपना देखकर;
नेत्र से आँसू निकलते हैं नहीं?
भाग्य-हीना क्या स्वयं को लेखकर,
पाप से कलुषित हृदय जलते नहीं?
क्या तुम्हारी बदन-श्री सब खो गई,
उच्च गौरव का नहीं कुछ ध्यान है?
क्या तुम्हारी आज अवनति हो गई?
क्या सहायक भी नहीं भगवान हैं?
हो रहे क्यों भीष्म अत्याचार हैं,
इस तुम्हारे फूल से मृदुगात पर?

मच रहे क्यों आज हाहाकार हैं,
अब नृशंसों के महाउत्पात पर !
क्या न अब कुछ देश का अभिमान है ?
खो गई सुखमय सभी स्वाधीनता।
हा रहा कितना अधिक अपमान है ?
समुद इसको कौन सकता है बता ?
नव-हरिद्रा-रंग-रंजित अंग में,
सर्वदा सुख में तुम्हीं लवलीन हो।
ग्रन्थि-बन्धन के अनूप प्रसंग में,
दूसरे ही के सदा आधीन हो।
बस तुम्हारे हेतु इस संसार में,
पथ-प्रदर्शक अब न होना चाहिये।
सोच लो संसार के कान्तार में,
बद्ध होकर यदि जिये तो क्या जिये !
कर्म के स्वच्छन्द सुखमय क्षेत्र में,
किङ्किणी के साथ भी तलवार हो।
शौर्य हो चञ्चल तुम्हारे नेत्र में,
सरलता का अंग पर मृदु-भार हो।
सुखद पतिव्रत धर्म-रथ पर तुम चढ़ो,
बुद्धि ही चंचल अनूप तुरंग हो।
दिव्यजीवन के समर में तुम बढ़ो,
शत्रु के प्रण शीघ्र ही सब भंग हों।

हार पहनो तो विजय का हार हो,
दुन्दुभी यश की दिगन्तों में बजे।
हार हो तो बस यही व्यवहार हो,
तन चिता पर नाश होने को सजे।
मुक्त फणियों के सदृश कच-जाल हों।
कामियों को शीघ्र डसने के लिए।
अरुणिमायुत हाथ उनके काल हों,
सत्य का अस्तित्व रखने के लिए।

(२)

भव्य भारत-भूमि की स्वाधीनता,
जब यवन से पद-दलित था हो चुकी।
दीखती सर्वत्र थी अति दीनता,
फूट की विष बेलि भी थी बो चुकी॥
पूर्व-यश का क्षीण स्मृति ही शेष थी,
वीरता केवल कहानी ही रही॥
बंधुओं में बंधुता निश्शेष थी,
दमन की परिपूर्ण धारा थी बही॥
शत्रुओं को दण्ड देने के लिए,
आर्य-शोणित में न इतनी शक्ति थी।
वीरता का नाम लेने के लिए,
म्यान के सौन्दर्य पर ही भक्ति थी॥

ललित ललनाएँ बनी सुकुमार थीं,
अङ्ग पर आभूपणों का भार था।
रत्न-हारों पर समुद बलिहार थीं,
सेज ही संसार का सब सार था॥
नेत्र लड़ना ही सुखद रण-रङ्ग था,
चारु चितवन ही अनोखा तीर था।
क्यों न हों ? जब प्रियतमों का सङ्ग था,
प्रियतमाओं-युक्त हिन्दू वीर था॥
नेत्र-गोपन का चिबुक-चुम्बन जहाँ,
प्रेम की विधि का अनूप विधान है।
मातृ-भू के त्राण की गाथा वहाँ,
पापियों के पुण्यगान समान है॥
किङ्किणी की नाद असि-झङ्कार है,
भ्रू-चपलता है ललित कौशल जहाँ।
वीररस होता जहाँ शृंगार है,
देश-गौरव की शिथिलता है वहाँ॥

श्रीमतीजी का 'संयुक्ता' का यह रूप-वर्णन भी सुन्दर है:—

हो रहा कन्नौज में आनन्द है,
हर्ष की धारा नगर में है बही।
बैर और विरोध बिलकुल बन्द है,
सर्व जनता आज हर्षित हो रही॥

भीड़ भारी हो रही प्रासाद में,
खुल गया है द्वार मारे कोप का।
नर तथा नारी हुए उन्माद में,
गूँज उठता शब्द ऊँचे घोष का॥
नारियाँ सब चल पड़ीं शृंगारकर,
राज-गृह की ओर अनुपम हर्ष में।
मधुरिमा-मय सुखद जय-जयकारकर,
हृदय के आनन्द के उत्कर्ष से॥
थालियों में फूल-मालाएँ सजीं,
गीत गा-गाकर चलीं सुकुमारियाँ।
हाव-भावों में स्वयम् रति को लजा,
मन-सहित कच बाँध सुन्दर नारियाँ॥
मुग्ध मुग्धाएँ चलीं व्रीड़ा-सहित,
शीघ्र सकुचाकर पुरुष की दृष्टि से।
मंद गति से वे चलीं क्रीड़ा-सहित,
नेत्र चञ्चलकर सुमन की वृष्टि से॥
था बड़े आनंद का कारण वही,
एक पुत्री थी हुई जयचन्द के।
हर्ष मे थी उमगती सारी मही,
आ गये थे दिन अधिक आनन्द के॥
देख उसकी छवि अनूप सुधामयी,
थे चकित सब व्यक्ति नगरी के महा।

सोचते थे हृदय में पुरजन कई,
रूप ऐसा मानवों में है कहाँ!
चन्द्रमा का सार मानो भर दिया,
बालिका की नवल सुन्दर देह में।
स्वयं श्री ने वास मानो कर लिया,
सरल उसके कान्तिमय मुख-गेह में॥

+ + +

जिस किसी की आँख उस पर पड़ गई,
देखते ही देखते दिन बीतता।
बस उसी के हृदय पर थी चढ़ गई,
बालिका के रूप की लोनी लता॥
चारु चुम्बन में मदन था गूँजता,
समुद राका रुचिर हास-विलास था।
कौन उनके हर्ष को सकता बता,
जननि का उपमा-रहित उल्लास था॥
रुचिर मणिमय पालने की सेज पर,
बालिका कर-कञ्ज मञ्जु उछालती।
तब जननि लखती उसे थी आँखभर,
बार-बार दुलारकर पुचकारती॥

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही की तरह श्रीमतीजी में शृंगाररस की सुन्दर रचना करने की भी शक्ति है। नीचे की पंक्तियाँ हमारे इस कथन को प्रमाणित करती हैं:—

उन्मादिनी

विषम प्रभञ्जन के प्रकोप से, बिखरेंगे जब केश कलाप।
ज्योत्स्नानल के प्रखर ताप से, मन में जब होगा सन्ताप।
मधुर अरुणिमा-रहित बनेंगे, शुष्क कपोल आप ही आप।
जब धरणी की ओर देखकर, रह जाऊँगी मैं चुपचाप॥
तब क्या वनमाली आकर, दुख-नद से मुझे उबारेंगे।
अपने कोमल हाथों से मृदु, अलकावली सुधारेंगे॥
मुरली की मृदु तान छेड़कर, शान्ति-सुधा बरसावेंगे।
शुष्क कण्ठ से कण्ठ मिलाकर, कोमल-ध्वनि से गावेंगे॥

भ्रम है मुझे ललित लतिका का, समझ न जाऊँ मैं वनमाल।
कृष्ण समझकर बड़े प्रेम से, चूम न लूँ मैं कहीं तमाल॥



करते थे, वैसे ही देश की वेदना अपनी पंक्तियों द्वारा प्रकट सिद्धहस्त थे। साथ ही इतना और जान लेना आवश्यक है कि दम्पति में से हर एक ने दूसरे को प्रभावित किया। कहा जाता है, लालाजी की 'वीर पंचरत्न' नामक पुस्तक की रचना देवीजी की प्रेरणा का फल था। जो हो, श्रीमती बुँदेला-बाला की रचनाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि हिन्दू-समाज के भविष्य से चिन्तित और आशंकित रहनेवाले पुरुषकवि यदि देशानुरागपूर्ण रचनाएँ लिखने की प्रवृत्ति को नहीं रोक सकते थे, तो स्त्री-कवियों के लिए तो यह और भी असम्भव था। माताओं का हृदय स्वभावतः सुकु- मार होता है, और जब कवि हुए बिना भी उसकी करुणा का पार नहीं रहता, तब कवित्त्व-शक्ति सम्पन्न होने पर उसकी हृदय- द्राविणी लेखनी के चमत्कार का क्या कहना! नीचे देवीजी के देश- भक्ति पूर्ण थोड़े से पद्य दिये जाते हैं:—

(१)

माता और पुत्र की बात-चीत

माता—

हे प्यारे! कदापि तू इसको तुच्छ श्याम-रेखा मत मान।
यह है शैल हिमाचल इसको भारत-भूमि-पिता पहिचान॥
नेह-सहित ज्यों पितु पुत्री का सादर पालन करता है।
यह हिम-गिरि त्योंही भारत-हित पितृ-भाव हिय धरता है॥
गंगा जमुना युगल रूप से प्रेम-धार का देकर दान।
भारत-भूमि-रूप दुहिता का नेह-सहित करता सम्मान॥

पुत्र—

यह जो बाम ओर नक्शे के रेखामय अतिशय अभिराम।
शोभामय सुन्दर प्रदेश है मुझे बता दे उसका नाम॥

माता—

बेटा यह पञ्जाब देश है पुण्य-भूमि सुख-शान्ति-निवास।
सर्व प्रथम इस थल पर आकर किया आर्यों ने निज वास॥
कहीं गान-ध्वनि कहीं वेद-ध्वनि कहीं महामंत्रों का नाद।
यज्ञ फूल से रहा सुवासित यह पञ्जाब-सहित आह्लाद॥
इसी देश में बस के 'पोरस' ने रक्खा है भारत-मान।
जब सम्राट सिकन्दर आकर किया चाहता था अपमान॥
इससे नीचे देख, पुत्र, यह देश दृष्टि जो आता है।
सकल बालुका-मय प्रदेश यह राजस्थान कहाता है॥
इसके प्रति गिरिवर पर बेटा अरु प्रत्येक नदी के तीर।
देश मान हित करते आये आत्म-विसर्जन क्षत्रिय वीर॥
कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ अमर चिन्हों के रूप।
वीर कहानी रजपूतों की लिखी न होवे अमर अनूप॥
क्षत्रिय-कुल-अवतंस वीरवर हैं प्रतापजी का यह देश।
रानी 'पदमावती' सती ने यहीं किया है नाम विशेष॥
क्षत्रिय वंश-जाति को चहिये करना इसको नित्य प्रणाम।
क्षत्रियदल का जग में इससे सदा रहेगा रोशन नाम॥

(२)

चाहिये ऐसे बालक !

परशुराम श्रीराम भीम अर्जुन उद्दालक।

गौतम शङ्कर-सरिस धर्म सत् के सञ्चालक ॥
उत्साही दृढ़ अङ्ग प्रतिज्ञा के प्रतिपालक।
शारीरिक मस्तिष्क शक्ति-बल अरिगण-घालक॥
काज करैं मन लाय, बनै शत्रु न उर-शालक।
अब भारतमाताहिं चाहिए ऐसे बालक ॥१॥
दुर्बल अरु भयभीत सदा, जो कहत पुकारी।
"अरे बाप ! यह काज हमैं सूझत अति भारी" ॥
"मैं नाहीं कर सकत" शब्द मुख तें न उचारैं।
"हाँ करिहौं उद्योग", सहित उत्साह पुकारैं॥
सत्यभाव ते कहैं करैं अरु बनै न टालक।
अब भारतमाताहिं चाहिये ऐसे बालक ॥२॥
जो करना है, उसे करैं, अपने निज हाथन।
देश-भलाई हेत करैं अभिलाषा लाखन॥
कठिन परिश्रम देखि न कबहूँ मन ते हारैं।
भारी भार निहार न कबहूँ कंधा डारैं॥
करैं काज बनि कुल-कलङ्क-कालिख-प्रच्छालक।
अब भारतमाताहि चाहिये ऐसे बालक ॥३॥
देखि कठिन कर्त्तव्य उसे जू-जू जनि जानैं।
अपना धर्म विचार उसे अपना करि मानैं॥
ऐसे बालक जबहिं देश के मुखिया ह्वैहैं।
तब भारत के सकल दुःख दारिद नशैहैं॥
मिटिहैं हित को ताप घोर कटिहैं जभालक।

अब भारतमाताहि चाहिए ऐसे बालक ॥

(३)

सावधान !

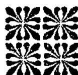
सावधान हे युवक-उमङ्गों, सावधानता रखना खूब।
युवासमय के महा मनोहर विषयों में जाना मत डूब ॥
सर्व काज करने के पहले पूछो अपने दिल से आप।
"इसका करना इस दुनिया में, पुण्य मानते हैं या पाप" ॥
जो उत्तर दिल देय तुम्हारा उसे समझ लो अच्छी भाँति।
काज करो अनुसार उसी के नष्ट करो दुःखों की पाँति ॥
कभी भूल ऐसी मत करना अच्छी के लालच में आज।
देना पड़े कलह ही तुमको रत्नमालसम निज कुल-लाज ॥
युवासमय के गर्म रक्त में मत बोओ तुम ऐसा बीज।
वृद्ध समय के शीत रक्त में, फूलें चिन्ता फलें कुलाज ॥
पश्चात्ताप कुरस नित टपकै बदनामी-गुठली दृढ़ होय।
उँगली उठै बाट में चलते, मुँह भर बात न बूझै कोय ॥
यौवन ऋतु बसन्त में प्यारे कुसुम मपूत देखि मत भूल।
दबा-दबाकर युक्ति-सहित रख निज उमंग के सुन्दर फूल ॥
सावधान! इनको विनष्टकर फिर पीछे पछतावेगा।
वृद्ध वयस सम्मान सुगन्धित फिर कैसे महकावेगा ॥
परमेश्वर के न्याय-तुला की डंडी जग में जाहिर है।
उसको ऊँच नीच कछु करना मानव बल से बाहर है ॥
अहंकार सर्वदा जगत में मुँह की खाता आया है।

नय नम्रता मान पाते हैं, सबने यहा बताया है।
है प्रत्येक भव्यता के हित इस जग में निकृष्टता एक।
विषय रूप मिष्टान्न मध्य हैं विषमय आमय-कीट अनेक॥
इन्द्रिय-विषय शिखर दूरहिं ते महा मनोरम लगते हैं।
निकट जाय जाँचे समझोगे, रूपहरामी ठगते हैं॥
है प्रत्येक ऊंच में नीचा, प्रति मिठास में कडुआ स्वाद।
प्रति कुकर्म में शर्म भरो है मर्म खोय मत हो बरबाद॥
प्रकृति-नियम यह सदा सत्य है कैसे इसे मिटाओगे।
जग में जैसा कर्म करोगे वैसा ही फल पाओगे॥

सच्चे प्रेम का देवीजी ने निम्नलिखित पद्यों में बहुत सुन्दर रूप अंकित किया है:—

प्रेम-पंथ परिहै कहाँ, जियरा को सुख-चैन।
धक-धक करि हियरा कहै, उठि पिय देश चलैन॥
प्रेम पियाला पी छकै, ताका सुनो हवाल।
तिन सम कोश कुबेर को, सुर मणि राई लाल॥
प्रेम-पथ को गूढ़ सुख, प्रेमिहिं सकै बताय।
वेदान्ती जानै नहीं, दाँत बाय रहि जाय॥
प्रेम-तत्व अति गूढ़ है, बुद्धि न सकै बताय।
पहुँचि न पावै बीच हो, ढपि कपूर लौं जाय॥
बड़ो अचरज जगत में, कहिये काहि सुनाय।
याही भजो दिखात है, जो चित लेय चुराय॥
तुमहिं बतावस ठोक में, प्रेमिन की पहिचान।

दृग-नीर बरसै तऊ, मुखड़ा रहा मुरान ॥
कैसी दशा वियोग की, तुमहिं कहाँ समुझाय।
दमयन्ती सीता सती, जान्यो कहाँ न हाय ॥
प्रेम पंथ में जो मजा, सो जान्यौ मसूर।
लोग कहैं फाँसी चढ़ा, पहुँचा श्याम हजूर ॥
जे नर प्रेमी जनम की, हँसी करत मुसुकाय।
डरपौं, उनको धर्म कहुँ, जग सरि नहिं बहि जाय ॥
कँचन हित मद प्रेम को, जो पिय धरै दुकान।
तो मैं निज नयनन करूँ, वा दर को दरवान ॥



गोपालदेवी   

श्रीमती गोपालदेवी का जन्म संवत् १९४० में बिजनौर में हुआ। आपके पिता पं० शोभाराम और माता श्रीमती सरस्वतीदेवी ने आपको घर पर ही अच्छी शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। अठारह वर्ष की अवस्था में आपका विवाह पं० सुदर्शना-चार्य बी० ए० से हुआ। पंडितजी का सहयोग पाकर आपने स्त्री-शिक्षा के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया; 'गृहलक्ष्मी' नामक उपयोगिनी मासिक-पत्रिका का प्रकाशन इसी उद्योग का एक अंग था। आपही की प्रेरणा से उक्त पंडितजी ने 'शिशु' नामक बालोपयोगी मासिक-पत्र का संचालन किया। देवीजी में देशानुराग का भाव प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। देवियों में सब से प्रथम आप ही के कार्यों में, स्त्रियों और बच्चों के क्षेत्र में देशभक्ति का भाव क्रियात्मक रूप में दिखलायी पड़ा। आपके सम्पादन-काल में हिन्दी-साहित्य के भीतर भारत-सम्बन्धी कविताओं की उसी तरह धूम मची हुई थी, जैसी आज छायावाद

थी। हर एक कवि भारत की आर्त्त दशा पर कुछ न कुछ पंक्तियाँ लिख जाने ही में अपने जीवन की सार्थकता समझता था। देवीजी ने ऐसी कविताएँ लिखने में अपना समय न लगाकर बच्चों और अल्पशिक्षा-सम्पन्न स्त्रियों का मनोरंजन कराने की ओर विशेष ध्यान दिया। नीचे की कविताएँ पाठक देखें:—

चमगीदड़

एक बार पशु और पक्षियों में ठन गयी लड़ाई घोर।
चमगीदड़ ने सोचा 'हूँगा जो जीतेगा उसकी ओर'॥
कई दिनों के बाद लख पड़ी उसे जीत जब पशु-दल की।
आय मिला पशुओं में फ़ौरन करने लगा बात छल की॥
"भाई! मैं भी तुममें से हूँ पशु के मुझ में सब लक्षण।
पशुओं से मिलते हैं मेरे रहन-सहन, भोजन-भक्षण॥
दाँत हमारे पशुओं के-से मादा ब्याती बच्चों को।
सब पशुओं के ही समान वह दूध पिलाती बच्चों को॥
सुन उसकी बातें पशुओं ने अपने दल में मिला लिया।
अगले दिन पक्षी-दल ने पशुओं पर भारी विजय किया॥
उसी समय पक्षी-सेना ने चमगीदड़ को पकड़ लिया।
घबड़ाकर चमगीदड़ ने पक्षी-नायक से विनय किया॥
"आप हमारे राजा हैं, हम भी पक्षी कहलाते हैं।
फिर क्यों हम अपने ही दल से वृथा सताये जाते हैं॥
देखो पंख हमारे, हम उड़ते हैं, पेड़ों पर रहते हैं।
हाय आज झूठी शंका-वश अपने दल में दुख सहते हैं॥"

सुन चमगोदड़ की बातें पत्ती-नायक ने छोड़ दिया।
जान बची चमगोदड़ की तब उसने जय-जयकार किया॥
हुई लड़ाई अन्त, अन्त में सुलह हुई दोनों दल में।
भेद खुला चमगोदड़ का सारा सब लोगों में पल में॥
तब से वह ऐसा शर्माया दिन में नहीं निकलता है।
अन्धेरे में छिपकर चरता नहीं किसी से मिलता है॥
समय पड़े जो दोनों दल की करते हैं 'हाँ जी, हाँ जी'।
वे चमगोदड़ के समान दोनों की सहते नाराज़ी॥

धोबी और गधा

किसी एक धोबी ने कपड़े ले आने ले जाने को।
एक गधा पाला, पर उसको देता थोड़ा खाने को॥
एक बार धोबी कपड़े धो चला घाट से आता था।
कपड़ों से गदहे को उसने बुरी तरह से लादा था॥
पड़ता था रस्ते में जंगल वहाँ लुटेरे दीख पड़े।
डर से होश उड़े धोबी के और रोंगटे हुए खड़े॥
कहा गधे से, "अबे भाग चल, देख लुटेरे आवेंगे।
मारें पीटेंगे मुझको वे तुझे छीन ले जावेंगे॥
कहा गधे ने धोबी से तब "मुझे छीन वे क्या लेंगे?"
धोबी बोला—"बड़ी-बड़ी गठरी तुझ पर वे लादेंगे।"
कहा गधे ने, दया करो मत उनसे मुझे बचाने की।
नहीं नेक भी चिन्ता मुझको उनसे पकड़े जाने की"॥
"मेरे लिए एकसा ही है, जहाँ कहीं भी जाऊँगा।

वहाँ लदेगा बोझ बहुत, औ थोड़ा भोजन पाऊँगा॥
"मुझे आप के पास अधिक कुछ भी सुख की आशा होती।
संग तुम्हारे तो अवश्य रहने की अभिलाषा होती" ॥
गधा छीन ले गये लुटेरे धोबी मन में पछताया।
कष्ट बहुत से दिये गधे को हा! उसका यह फल पाया॥

भेड़ और भेड़िया

नदी किनारे भेड़ खड़ी एक सुख से पीती थी पानी।
एक भेड़िये ने लख उसको मन में पाप-बुद्धि ठानी॥
बिना किसी अपराध भला मैं इसका कैसे करूँ हनन।
उसे मारने को वह जी में लगा सोचने नया यतन॥
कर विचार आकर समीप यों बोला कपट-भरी बानी।
"अरी भेड़ तू बड़ी दुष्ट है क्यों करती गँदला पानी॥"
क्रोध-भरी लख आँख बिचारी भेड़ रही टुक वहाँ सहम।
बोली—"क्यों अपराध लगाते हो चितलाते नहीं रहम॥
मैं तो पीती हूँ पानी तुमसे नीचे की ओर।
भला कहीं होती भी होगी जल की उलटी दौर"?।
सुनकर उसके वचन भेड़िया फिर बोला उससे ऐसे -
पारसाल उस पेड़-तले तूने दी थी गाली कैसे?"
डरकर भेड़ विनय से बोली मन में उसको जालिम जान।
"मैं तो आठ महीने की भी नहीं हुई हूँ, कृपानिधान!"
"कहाँ तलक तेरे अपराधों को दुष्टा मैं कहा करूँ।
है बहस करती वृथा तू मैं भूख कहाँ तक सहा करूँ॥

तू न सही तेरी माँ होगी," यों कहकर वह झपट पड़ा।
भेड़ बिचारी निरपराध को तुरत खा गया खड़ा-खड़ा॥
जो ज़ालिम होता है उससे बस नहिं चलता एक।
करने को वह ज़ुल्म बहाने लेता ढूँढ़ अनेक॥

मौत और घसियारा

किसी गाँव में इक घसियारा। रहता था क़िसमत का मारा।
बेटे-बेटी जोड़ू जाता। कोई न थे, अल्ला से नाता॥
पर जब पापी पेट न माना। उसने घास छोलना ठाना।
ठीक दुपहरी जेठ महीना। सिर से पावों बहा पसीना॥
बुड्ढा लगा खोदने घास। हाय पेट यह तेरे त्रास।
खोद-खोदकर बोझ बनाया। थोड़ी दूर उसे ले आया॥
पर जब थककर हुआ बेहाल। बोझ पटक रोया तत्काल।
होकर दुखी लगा चिल्लाने। "मौत गयी तू कहाँ, न जाने॥
अरी मौत तू आजा-आजा। मुझ पर ज़रा रहम तू खाजा।
दया मौत को उस पर आई। उसने अपनी शकल दिखाई॥
बोली—"बुड्ढे! कहा क्या कहता। क्यों नहिं कर्म-भाग तू सहता"॥
आगे देख मौत घसियारा। सिटपिटाय रह गया बिचारा।
पर फिर बोला सोच-विचार। "देवी तुम्हीं जगत्-आधार॥
बड़ी कृपा की तुमने मात। मुझ बूढ़े की सुन ली बात।
मैंने इसको कष्ट दिया है। बोझ घास का बाँध लिया है॥
पर मुझसे नहिं जाय उठाया। इससे माता तुम्हें बुलाया।
आप लगा दें नेक सहारा। इतना ही बस काम हमारा।"॥

कीरतिकुमारी  

श्रीमती महारानी परिहारिन माँ साहबा, उपनाम 'कीरति कुमारी' का जन्म फाल्गुण शुक्ल नवमी संवत् १६५२ को हुआ। आप रीवाँ की राजमाता हैं। आपकी कविता का विषय राधा-कृष्ण है। आपने श्रीकृष्ण का चरित्र अंकित करने में प्रचलित प्रणाली ही से काम लिया। जितनी महिला-कवियों की कविताएँ पिछले पृष्ठों में दी गयी हैं उनसे 'कीरतिकुमारी' जी की रचनाओं में, भाषा की दृष्टि से, एक भिन्नता है। राजमाता महोदया की कविता में फ़ारसी उर्दू का उपयोग पाया जाता है तथा उसमें फ़ारसी भाषा के शब्दों की भी प्रचुरता है। नीचे के पद्यों में उनका श्रीकृष्ण-चित्रांकण अवलोकन कीजिए:—

(१)

वादा करके मेरे श्याम दगा दी तूने।
गैरों के रहके मेरी रात गमा दी तूने॥

शाम से रात तनौअर में गुज़ारी मैंने।
क्या बिगाड़ा था मेरी जान सज़ा दी तूने॥
जान जाती है मेरी तुझको मज़ा आता है।
वादा करके भी मुहब्बत को घटा दी तूने॥
तुम मिलो या न मिलो मैं तुम्हें भूलूँगी नहीं।
मिल गये गर तो जी 'कीरति' को बना दी तूने॥
रातभर वस्ल में मिल करके मज़ा दो तूने।
लगी थी आग मेरे दिल में बुझा दो तूने॥
मिल गये नन्दलाल क्या करूँ उनकी मैं अदब।
लेके उलफ़त का मज़ा खूब चखा दी तूने॥
रात की बात सखी क्या कहूँ कुछ कह न सकूँ।
मिल गये श्याम मुझे गत जिला ली तूने॥
हो गये कीर्ति-पिया अब न किनारा करना।
अब तो मिलना पड़ेगा बान लगा दी तूने॥

(२)

अब तो मोहन से भी लागी लगन,
हम प्रिय प्यारे की छवि में मगन॥
अंग-अंग युगल शोभा सँवार,
लखि दोउन लाजत कोटि मदन॥
मुसकात दोऊ अब मन्द-मन्द,
दामिनि सी चमकत दोउन रदन।

'कीरति' उन नित्तमतु युगल प्रिये,
रहे ध्यान सदा तव युगन युगन ॥

(३)

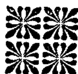
लीला के करैया नेकु माखन चोरैया,
दधि दूध के लुटैया रास-मंडल रचैया हैं ।
गिरि के धरैया ब्रज बूड़त बचैया,
गर्व इंद्र के हरैया वस्त्र गोपिन चोरैया हैं ॥
वृषासुर दुष्ट अघ बक के बधैया,
प्राण दासन रखैया घट-घट के रमैया हैं ।
सोई दीनानाथ आज 'कीरति कुमारी' गृह,
जनम लेवैया दुख दारुण हरैया हैं ॥

(४)

कालादह कूदि काली नाग के नथैया,
लादि कमल पठैया नन्द-संकट हरैया हैं ।
मथुरा जवैया वस्त्र रजक लुटैया,
जोई कूबरी हरैया पोड़ कवल हनैया हैं ॥
दुखदाई कंस का विध्वंस के मुद्दंस जोई,
निज दीन दासन के दुख के हरैया हैं ।
सोई दीनानाथ आज 'कीरति कुमारी'-गृह,
जनम लेवैया दुख दारुण हरैया हैं ॥

(५)

हमारे श्यामसुन्दर को इशारा क्यों नहीं होता।
पड़ा है दिल तड़पता है सहारा क्यों नहीं होता॥
हुई मुद्दत मे दिवाना न तूने ख़बर ली मेरी।
मरीज़े-इश्क़ में मरना हमारा क्यों नहीं होता॥
न कल दिनरात है मुझको जुदाई में तेरे प्यारे।
लबों पर जान आई है सहारा क्यों नहीं होता॥
न दुनियाँ मुझको भाती है न मैं भाती हूँ दुनियाँ को।
मगर 'कीरति' का दुनिया से किनारा क्यों नहीं होता।



तोरनदेवी 'लली'  

श्रीमती तोरणदेवी का जन्म प्रयाग में पंडित कन्हैयालाल तिवारी के यहाँ श्रावण शुक्ल द्वादशी संवत् १९५३ में हुआ। इनका विवाह रायबरेली-निवासी पंडित कैलाशनाथ शुक्ल बी० ए०, एल्-एल्० बी के साथ हुआ। इनके पुत्र पंडित हरिहरनाथ शुक्ल 'सरोज' भी अच्छी कविता करते हैं। 'लली' जी ने देशभक्ति-सम्बन्धी कविताएँ करने की ओर अपनी प्रवृत्ति रक्खी। नीचे की पंक्तियों में देश-वेदना से मर्माहत आपके हृदय की कैसी मधुर अभिव्यक्ति हुई है:—

(१)

नवसंवत

यही सोचती हूँ नवसंवत् !

कैसी होंगी तेरी—

वे नई लहर की घड़ियाँ।

जब सबके हृदयों में होगा, सहज आत्म-अभिमान।
जब सब भाँति प्रदर्शित होगा, माता का सम्मान॥
जब टूट चुकेंगी सारी—
इस दृढ़ बन्धन की कड़ियाँ।
जब नारी सतवन्ती होंगी, लाज बचानेवाली।
जब शिशुओं के मुख पर होगी, स्वतंत्रता की लाली॥
जब समय आप पहनेगा, सुन्दर मोती की लड़ियाँ।
'लली' विश्व में गूंज उठेगा, अमर राष्ट्र का गान॥
जिसके प्रति शब्दों में होगा, देश-धर्म का ज्ञान॥
नव संवत्! तब देखूँगी—
वे तेरी सुख की घड़ियाँ।

(२)

प्रणाम!

सादर सस्नेह प्रणाम आज, उन चरणों में शतकोटिवार!
माता के लाल लड़ैते थे,
भगिनी के वीर बाँकुरे थे,
सौभाग्यवान जीवन के थे -
जीवन थे प्राण-पियार थे।
वे सब की भावी आशा थे, थे जन्मभूमि के होनहार!!
वे देश-प्रेम मतवाले थे,
माता के परम पुजारी थे,

पुरुषों में थे वे पुरुष-सिंह,
कर्त्तव्य-धर्म-व्रत-धारी थे !
प्राणों को हँसकर छोड़ दिया, पर प्राण न तजा अपना अपार !!

वे ज्ञानवान थे, योगी थे,
अनुपम त्यागी थे, सज्जन थे,
वे वीर हठीले सैनिक थे,
तेजस्वी थे, विद्वज्जन थे !
कर्त्तव्य-कर्म की ओर बढ़े, फल की सारी सुध-बुध बिसार !!

तम-पूर्ण निशा में ज्योति हुए,
पथ-दर्शक कंटकमय मग के,
मरकर भी हैं वे अमर बने,
आदर्श हुए भावी जग के !
मंगलमय था बलिदान और वे थे भारतमाँ के शृंगार !
सादर सस्नेह प्रणाम आज, उन चरणों में शतकोटिवार !!

'लली' जी श्रीकृष्ण के स्वरूप का अंकन करने की ओर ध्यान नहीं दिया, किन्तु देशोद्धार के लिए उनकी कृपा का आवाहन अवश्य किया है देखिए:—

(१)

मनमोहन श्याम हमारे !
अब फिर कब दर्शन दोगे ?

शबरी गणिका गीध अजामिल
सब को लिया उबार।
द्रुपदसुता की लाज बचाकर
कर गज का उद्धार।
हे दीनन के रखवारे,
क्या मेरी भी सुध लोगे!
भूली नहीं मधुर मुरली की
विश्व विमोहनि तान।
नाथ आज भी जाग रहा
वह गीता का ज्ञान।

(२)

जसुदा के लालन प्यारे कब कुंजों में विहरोगे!
कब हे आराध्य हमारे हमसे फिर आन मिलोगे!
सुख से ही परिपूरित होगा मिट जायेंगे क्लेश।
केवल 'लली' इसी आशा पर जीवित है यह देश।

ललीजी ने ईश्वर का दर्शन भी देश-प्रेम ही के अभिमत और देश-सेवा के प्रयत्न ही में करने का उद्योग किया है। नीचे की पंक्तियों में उनका यह भाव बहुत सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है:—

अभिलाषा

मुझसे मिल जाना इकबार।
कहाँ-कहाँ मैं ढूँढ रही हूँ, कब से रही पुकार।

मुझसे मिल जाना इकबार ॥
नव-कुसुमों की कुंज-लता में,
निशि-तारों की सुन्दरता में,
सरल हृदय की उज्ज्वलता में,
कुसुमित दल की माधुरता में।
कितना तुमको खोज चुकी हूँ,
जिसका वार न पार।
मुझसे मिल जाना इकबार ॥
सरिता की गति मतवाली में,
प्रिय वसन्त की हरियाली में,
बाल-प्रभाकर की लाली में,
निशा-नाथ की उजियाली में।
आशावादी बनकर लोचन,
अब तक रहे निहार।
मुझसे मिल जाना इकबार ॥
अब देखूँगी उत्थानों में,
देश-प्रेम के अभिमानों में,
वीर-श्रेष्ठ के गुण गानों में,
अमर सुयश शुभ सम्मानों में।
दर्शन होते ही तज दूँगी,
हिय-वेदना अपार।
मुझसे मिल जाना इकबार ॥

देवीजी ने 'कलिका' शीर्षक निम्नलिखित कविता में
नायिका का बहुत सुन्दर रूप अंकित किया है:—

कलिका

नव कलिका तुम कब विकसी थीं,
इसका मुझको ज्ञान नहीं।
हुई समर्पित श्रीचरणों पर,
कब इसका कुछ ध्यान नहीं॥
हृदय-संगिनी सरल मधुरता—
में देखा अभिमान नहीं।
सच है गुण, धन, यौवन-मद का,
दुनियाँ में सम्मान नहीं॥
इसी हेतु सब श्रेष्ठ गुणों से,
पूरित तुमको अपनाया।
नव कलिका जब तुमको देखा,
तभी पूर्ण विकसित पाया॥
नन्दन कानन में सुरभित—
होने की तुमको चाह नहीं।
हृदय वेधकर हृदय-स्थल तक,
जाने को है दाह नहीं॥
मंत्र-मुग्ध से जग-जन होवें,
इसकी कुछ परवाह नहीं।

इन पवित्र मुसकानों में है,
छिपी हुई वह आह ! नहीं ॥
प्रेममयी इस अखिल-विश्व को,
अचल प्रेम से अपनाना।
यदि मिल जावें युगल चरण वह,
तुम उन पर बलि हो जाना ॥

देवीजी के काव्य में सौम्यता और स्वच्छ भावुकता का समावेश पाया जाता है। अतएव उनका साधुशीलता की खोज करना स्वाभाविक ही है। सुशीलता की प्राप्ति में वे विश्व-विजय-हर्ष का अनुभव करने की कल्पना करती हैं। नीचे की पंक्तियाँ देखिए:—

यह मैंने माना जीवन-धन !
सुन्दरता जीवन का मूल।
इस मायारूपी प्रपञ्च में
सरल जगत जाता है भूल ॥
रमणी के चञ्चल नयनों का,
या सौन्दर्य प्रकृति का जाल।
तोड़ सका है इस पृथ्वी पर,
विरला ही माई का लाल ॥
किन्तु मधुर फल जीवन का
यदि साधुशीलता पाऊँगी।

यह आशा है अखिल विश्व पर
पूर्ण विजय पा जाऊँगी ॥

किन्तु उक्त पदों में 'रमणी के चंचल नयनों का' की साथ हमारी समझ में नहीं आयी। यह हिन्दू महात्मा के कथन की प्रतिध्वनि तो नहीं है, जिसे देवीजी ने अज्ञातभ अपनी वाणी में भी स्थान दे दिया?

देवीजी के जीवन में उच्चता की झलक मिलती है; निम्नलिखित 'संदेश' में हमारे लिए बहुत ऊँचा संदेश मिलता है

उनपर ही जीवन न्योछावर, जिनका उज्ज्वल पुण्य-प्रताप।
जिन्हें न बेध सका जगती का दुःख, शोक, दारुण संताप॥
जिनकी बाट जोहती आशा, जिनसे शंकित होता पाप।
जिनके चरणों पर श्रद्धा से, नत मस्तक हो जाता आप॥
उनको ही सेवा में मेरा, यह संदेश सुना देना—
यदि जाने पाऊँ तो उनके, चरणों तक पहुँचा देना॥





श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

सुभद्राकुमारी चौहान

सत्य के वास्तविक रूप के सम्बन्ध में विद्वानों में सदा से मतभेद रहा है। यह मत-भिन्नता आश्चर्य की वस्तु नहीं। कारण यह कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धि से लेकर स्थूल-से-स्थूल बुद्धि के अनुसंधान का विषय होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव अपनी ही कूँची और रंग से उसका चित्र चित्रित करने की चेष्टा करता है। सत्य ही एक ऐसी वस्तु है जिसके सम्बन्ध में सर्वथा विरोधी मत रखनेवाले दो व्यक्तियों के कथन का भी सामञ्जस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए एक पक्ष का कहना है कि सूर्य स्थिर है और दूसरे पक्ष का आग्रह है कि वह गतिशील है। इन दोनों मतों का मिलन सरलता से उस स्थान में हो सकता है जहाँ यह स्वीकार कर लिया जाय कि दर्शक का दृष्टि-कोण ही इस विषय का प्रधान निर्णायक है। रेलगाड़ी में खड़े होकर हम पेड़ों को दौड़ते हुए देखते हैं; किन्तु पेड़ के पास खड़े होकर हम देखते हैं कि वे अचल हैं। वास्तव में पेड़ का दौड़ना उतना ही

सत्य है जितना उनका अचल होना। दृष्टिकोण-विशेष हमें सत्य के रूप-विशेष को हृदयंगम करने के लिए प्रेरित करता है।

दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह एक सामान्य सत्य है, इस सत्य में कला का कोई प्रवेश नहीं। यही नहीं, इस सत्य में यदि हम कला को ढूँढ़ निकालने के लिए आतुर हों तो हमें कला का शब्द-कोश के पृष्ठों से लोप ही कर देना चाहिए। यदि कला किसी प्रकार की सौन्दर्य-सृष्टि नहीं करती तो उसकी संज्ञा ही व्यर्थ है। उसका जन्म तभी सार्थक है जब वह जहाँ कहीं प्रवेश करे वहीं चमत्कार की, सौन्दर्य की, उद्भावना करे। हमने यह कहा है कि सत्य का निर्विवाद रूप से स्थिर कोई रूप नहीं। जो इतना अस्थिर है, अनिश्चित है उसकी आराधना कला किस प्रकार कर सकती है—यह एक उचित प्रश्न है जिसकी ओर प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए किन्तु सत्यरूपी भगवान शिव लावण्य अथवा तरंग की तरह कैसे भी अग्राह्य क्यों न हों, सतरंगी इन्द्र-धनुप की तरह मुट्ठी में कैसे भी न आ सकनेवाले क्यों न हों, किन्तु यह निश्चित है कि गौरी रूपी कला को उन्हीं की आराधना में रत रहना पड़ेगा। नियति का ऐसा ही विधान है।

एक दिन एक सज्जन अपने एक मित्र के यहाँ मिलने गये। मित्र महोदय ने उनसे कहा—तुम मूर्ख हो। जानेवाले सज्जन ने भी कहा—तुम मूर्ख हो। कथन की यह शैली वास्तवि

घटना को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती है । किन्तु कलाकार ने इसे किस रूप में उपस्थित किया है, नीचे के दोहे में देखिए:—

मित्र तुम्हारे वदन पर, मूरखता दरसात।
मो मुख-दर्पण विमल अति; आजु प्रगट भो तात॥

सत्य और कला का जो स्वरूप मित्रों की वास्तविक बातचीत और कवि के उक्त दोहे में प्रकट हुआ है उससे पाठकों के सम्मुख यह बात तो स्पष्ट हो जानी चाहिए कि सत्य कला के बिना भले ही रह सके, किन्तु कला का अस्तित्व सत्य के बिना संभव नहीं। आखिर कला किसका सौन्दर्य-गान करेगी ?

बाबू रामकुमार वर्म्मा एम० ए० का कथन भी इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है । श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की कविता का परिचय लिखते हुए, 'मुकुल' नामक काव्य-संग्रह में, वे प्रसंगवश लिखते हैं:—

"कला का आदर्श सत्य से कुछ भिन्न है । यद्यपि आजकल के आलोचक 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' को ही कला की परिभाषा मानते हैं, पर वे यदि वस्तुओं के अन्तरतम स्थान में पहुँचने का कष्ट उठावें तो उन्हें अपनी परिभाषा परिष्कृत करना पड़ेगी। मैं तो कला का अस्तित्व वहीं तक मानता हूँ जहाँ तक वह किसी कलाकार के हृदयस्थ किसी भाव-विशेष से सम्पर्क रखती है। और जब वह भाव-विशेष प्रकाश में आता है तो निष्पक्ष एवं स्पष्ट रूप से । हम कलाकार से प्रत्येक स्थिति में वह निष्पक्ष भाव माँग सकते हैं, सत्य नहीं । उसका एक कारण है । हम नहीं कह

सकते कि वास्तविक सत्य का अस्तित्व और उसकी अन्तिम कहाँ है। जिसे हम आज सत्य का पूर्ण प्रमाण मानते हैं, सम्भव है, कल वही बालकों की क्रीड़ा का सामान मान लि जाय।"

हमारा नम्र निवेदन है कि सत्य के सिंहासन पर वे जिस 'निष्पक्ष भाव' को समारूढ़ बनाना चाहते हैं वह आवेगा कहाँ से ? क्या जो नश्वर है, रुग्ण है, मलिन है, उससे भी इस 'निष्पक्ष भाव' का विकास होगा ? किन्तु नश्वर से नश्वर, रुग्ण से रुग्ण और मलिन से मलिन वस्तुओं में भी सत्य का निवास रहता है। उनमें भी वह तत्व उपस्थित रहता है जो अचल और अनश्वर है। फिर कला द्वारा सत्य का तिरस्कार किस प्रकार संभव है ?

उक्त प्रसंग में ही, आगे चलकर, वर्म्मा महोदय कहते हैं:—

"कला को मैं वह विशद चित्र मानता हूँ, जिसमें कलाकार के हृदय की परिस्थिति स्पष्ट रूप से अंकित रहती है। जब कलाकार प्रेमी का रूप रखता है तो उसके सामने समुद्र उसकी मुस्कान के साथ मुस्कुराता है। वायु उसकी प्रेमिका का नाम उसके कान में कह जाती है; तारे उसे सौहार्द की आँखों से देखते हैं। वही कलाकार जब वियोगी बनकर दुखी होता है तो वही समुद्र उसे उदास और निर्दय मालूम होता है; वही वायु उसके उच्छ्वासों की हँसी उड़ाती है, और वही तारे उसकी ओर समवेदना-रहित शून्य नेत्रों से देखते हैं। दोनों ही परिस्थितियाँ कला-रूप की पूर्ण परिचायिका हैं; दोनों ही में कला का अस्तित्व है; पर उनमें

सत्यता में कितना अन्तर है—कितना भेद है ! यही कारण है कि कला में सत्य का उतना महत्व नहीं है, जितना परिस्थिति का ।

"परिस्थितियों की हिलोर में कवि की कविता इस प्रकार चलती है, जैसे कोई मन्त्र-मुग्ध । मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कविता से ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जो सुनने वालों को मुग्ध करती है; पर मतलब यह है कि कविता स्वयं मन्त्र-मुग्ध की भाँति अग्रसर होती है । उसका प्रत्येक शब्द मतवाला होता है । उन शब्दों के चारों ओर ऐसे वातावरण की सृष्टि होती है कि उसमें मुग्धता के सिवाय और कुछ भी नहीं होता । शब्दों की ध्वनि में मुग्धता होती है और उसके पारस्परिक सम्बन्ध में भी । ऐसी स्थिति में उनके भीतर बैठे हुए भाव भी मतवाले होते हैं । कल्पना में भी मादकता रहती है और वह मदिराक्षी की भाँति मुग्ध-गति से चलती है ।"

वर्माजी ने सत्य का अत्यन्त संकुचित रूप अपने सामने रक्खा है। वास्तव में हृदय की जिस परिस्थिति की उन्होंने समीक्षा की है वह सत्य की आंशिक अथवा एकदेशीय अभिव्यक्ति के सिवा और कुछ नहीं । यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो शायद "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" का समर्थन करनेवाले आलोचकों की कला-परिभाषा में उन्हें संकीर्णता न दृष्टिगोचर होती । वास्तव में ये तीन शब्द कला की कसौटी निर्धारित करने के लिए सुन्दर सूत्र का काम देते हैं । केवल 'सत्यम्' में निम्न श्रेणी के अनेक सामान्य तथ्यों का भी समावेश हो जाता है, इसलिए उसे 'शिवम्'

कल्याणकर, प्रगतिकारक भी होना चाहिए। किन्तु 'शिवम् सत्य' तो सामग्री मात्र हुआ। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उससे कला के लिए उचित सामग्री उपस्थित हो जाती है। उसे 'सुन्दरम्' बनाकर हमारे सामने लाना कला का काम है। हमारी समझ में तो केवल 'हृदय की परिस्थिति' पर निर्भर रहने में कलाकार के पतन की भी आशंका है। ऐसा भी हो सकता है कि वह अपने अमूल्य आँसू एरंड अथवा विष-वृक्षों के सिंचन में लगाकर अपनी प्राण-शक्ति का अपव्यय कर दे। ऐसी अवस्था में किस परिभाषा में संशोधन की आवश्यकता है, इस पर पाठक स्वयं विचार करें।

प्रथम भाग में श्रीमती प्रतापकुँवरि और श्रीमती रानी रघुवंशकुमारी की कविता की चर्चा करते समय हम उनके पति परमात्मा-विषयक मत का उल्लेख कर आये हैं। इन देवियों की लेखनी में सच्चे कलाकार की स्याही का अभाव था; नहीं तो इनके विचार सुन्दर रूप में रञ्जित होकर उच्चकोटि की रचनाओं के आधार होते। और हिन्दी-काव्य में व्यापक रूप से जिस विचार-धारा का आधिपत्य महात्मा तुलसीदास के बाद से होने लगा था और जिसको बल उनके परवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं द्वारा और अधिक बढ़ा दिया था, उसके क्षीणशक्ति होने के योग्य परिस्थिति बहुत पहले आ गयी होती। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देश-भक्ति-संदेश की जो लहर हिन्दी-साहित्य में फैली उसने शृंगाररस का स्थूल रूप क्रमशः लुप्त करने में सफलता पायी और रसों के सम्राट् ने प्रकोप

[ना]यिका को जो प्रभुत्व प्रदान कर रक्खा था, उसने देश-प्रेम के जुझाऊ [गी]तों के साथ अपना अधिकार कम से कम मानस क्षेत्र में तो प्रकट कर दिया। "प्रियप्रवास" के पहले के अनेक काव्यों की प्रवृत्ति से यह प्रकट होता था कि भारत-गीतों के समुद्र में परकीया [ना]यिका समेत शृंगार-रस डूब जायगा। किन्तु "प्रियप्रवास" प्रकट होने पर यह स्पष्ट हो गया कि "रतिनाथ" का सर्वथा नाश [न]हीं हुआ है; वे "अनंग" और "अतनु" रूप में विराजमान हैं; [क]हना नहीं होगा कि "प्रियप्रवास" की राधा उच्चकोटि की परकीया हैं।

"प्रियप्रवास" में हरिऔधजी ने राधा की मनोहारिणी सृष्टि-द्वारा [आ]धुनिक हिन्दी-कविता का जो शृंगार किया उसमें श्रीमती [सु]भद्राकुमारी की नायिका-सृष्टि ने उचित सहयोग दिया। हरिऔध[जी] ने "प्रियप्रवास" में जिस देशभक्ति-भावना का चित्रण किया [था], वह अत्यन्त व्यापक था; श्रीमती सुभद्राकुमारी ने देश की [व]र्तमान समस्याओं पर अपने उद्गार प्रकट किये। नायिका-सृष्टि [के] क्षेत्र में हरिऔधजी ने बहुत संकोच और झिझक से काम [लि]या था; श्रीमती सुभद्रा ने इस क्षेत्र में इस संकोच और झिझक [को] सुरक्षित रखते हुए उसका चित्र अंकित करने में उतनी ही [प]टुता से काम लिया जितनी कलात्मकता की रक्षा के लिए [आ]वश्यक और कहीं-कहीं अनिवार्य थी।

देवियों ने हिन्दी-साहित्य की सेवा में जो भाग लिया है उसमें [श्री]मती सुभद्राकुमारी चौहान का महत्व-पूर्ण स्थान रहेगा। [पू]र्ववर्ती कवियों में मीराबाई को छोड़कर अन्य किसी स्त्री ने इतनी

मादक, सरल और प्रभावशालिनी कविता नहीं की। पिछले
जिन देवियों की कविताओं की चर्चा की गयी है उनकी
एक सरसरी दृष्टि डालने ही से पाठकों को यह हृदयंगम
कि हमारे इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं है। वर्तमान सम
महिला-लेखिकाओं में उन्हें सब से अधिक प्रसिद्धि और प्रति
प्राप्त है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने आपको पद्य में 'मुकुल' के लि
तथा गद्य में 'बिखरे मोती' के लिए पाँच-पाँच सौ के पुरस्कार दे
पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में आपकी यशस्विनी प्रतिभाशालि
को स्वीकृति प्रदान की है। हाल ही में आपने प्रयाग में किये
महिला-कवि-सम्मेलन को सभानेत्री का पद सुशोभित किया थ

कुछ समय हुआ, हिन्दी के एक यशस्वी विद्वान् ने, जि
सर्वथा समुचित कीर्त्तिगान से सम्पूर्ण हिन्दी-संसार गूँज उठा
किसी मासिक-पत्र में सत्कविता के लक्षणों के सम्बन्ध में
प्रकार लिखा था :—

"कविता में यदि प्रसाद गुण नहीं तो कवि की उद्देश-सि
अधिकांश में व्यर्थ जाती है। कवियों को इस बात का सदा
रखना चाहिए। जो कुछ कहना हो, उसे इस तरह कहना चाहिए
वह पढ़ने या सुननेवाले की समझ में तुरन्त ही आ जाय। इसे
आप कविता का पहला गुण समझिए। दूसरा गुण कविता में
होना चाहिए कि कवि के कहने के ढंग में कुछ निरालापन
आकर्षण हो—वह अपने मन के भाव को इस तरह प्रकट
जिससे पढ़ने या सुननेवाले के हृदय में कोई न कोई विकार आ

उत्तेजित या विकसित हो उठे। विकारों का उद्दीपन जितना ही अधिक होगा, कवि की कविता उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी"।

इस कसौटी पर यदि हम कसें तो श्रीमती सुभद्रा की कविताएँ खरी उतरती हैं। उनमें प्रसादगुण की यथेष्ट मात्रा है, भावुकता की प्रचुर मात्रा उनमें पायी जाती है; प्रभाव डालने की शक्ति भी उनमें अपूर्व है। इसका स्वाभाविक फल यह है कि किसी गूढ़ता के आतंक अथवा कौतूहल-मात्र के वशीभूत होकर उनकी रचनाओं का आदर नहीं हो रहा है, वल्कि इस कारण कि—

सरल कवित कीरति विमल सोइ आदरहिँ सुजान।
सहज बैर बिसराइ रिपु जाकर करहिँ बखान॥

श्रीमती सुभद्रा का जन्म संवत् १९६१ में नागपंचमी के दिन प्रयाग में हुआ। संवत् १९७६ में आपका विवाह ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान बी० ए० एल्-एल्० बी० के साथ हुआ। चौहान महोदय देशभक्त पुरुष हैं, और 'कर्मवीर' में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के साथ काम कर चुके हैं। इस प्रसंग से सुभद्राजी को चतुर्वेदीजी जैसे सहृदय कवि के पथ-प्रदर्शन से लाभ उठाने का अवसर मिला। स्वभावतः उनकी कविता का एक प्रधान अंश देश की वेदना को व्यक्त करने की ओर अग्रसर हुआ। सरल और प्रायः निर्दोष तथा प्रभावशालिनी भाषा में उन्होंने भारत-माता की करुण कहानी कितनी हृदय-द्रावक शैली में कही है, इसे पाठक निम्नलिखित पंक्तियों में देखें:—

(१)

स्वदेश के प्रति

आ, स्वतंत्र प्यारे स्वदेश, आ, स्वागत करती हूँ तेरा।
तुझे देखकर आज हो रहा दूना प्रमुदित मन मेरा॥
आ, उस बालक के समान जो है गुरुता का अधिकारी।
आ, उस युवक-वीर-सा जिसको विपदाएँ ही हैं प्यारी॥
आ, उस सेवक के समान तू विनयशील अनुगामी-सा।
अथवा आ तू युद्धक्षेत्र में कीर्ति-ध्वजा का स्वामी-सा॥
आशा की सूखी लतिकाएँ तुझको पा, फिर लहरायीं।
तूने अत्याचारों की कृतियाँ हैं निर्भय दरसायीं॥

(२)

मेरी कविता

मुझे कहा कविता लिखने को, लिखने मैं बैठी तत्काल।
पहिले लिखा—"जालियाँवाला", कहा कि "बस, होगये निहाल॥"
तुम्हें और कुछ नहीं सूझता, ले-देकर वह खूनी बाग़।
रोने से अब क्या होता है, धुल न सकेगा उसका दाग़॥
भूल उसे, चल हँसो, मस्त हो—मैंने कहा—"धरो कुछ धीर।
तुमको हँसते देख कहीं, फिर फ़ायर करे न डायर वीर॥"
कहा—"न मैं कुछ लिखने दूँगा, मुझे चाहिये प्रेम कथा।"
मैंने कहा—"नवेली है वह रम्य वदन है चन्द्र यथा॥"
अहा! मग्न हो उछल पड़े वे, मैंने कहा—"सुनो चुपचाप।"

बड़ी-बड़ी-सी भोली आँखें केश-पाश ज्यों काले साँप ॥
भोली-भाली आँखें देखो, उसे नहीं तुम रुलवाना।
उसके मुँह से प्रेमभरी कुछ मीठी बतियाँ कहलाना॥
हाँ, वह रोती नहीं कभी भी, और नहीं कुछ कहती है।
शून्य दृष्टि से देखा करती, खिन्नमना-सी रहती है॥
करके याद पुराने सुख को, कभी चौंक-सी पड़ती है!
भय से कभी काँप जाती है, कभी क्रोध में भरती है॥
कभी किसी की ओर देखती नहीं दिखाई देती है।
हँसती नहीं किन्तु चुपके से, कभी-कभी रो लेती है॥
ताज़े हलदी के रँग से, कुछ पीली उसकी सारी है।
लाल-लाल से धब्बे हैं कुछ, अथवा लाल किनारी है॥
उसका छोर लाल, सम्भव है, हो वह ख़ूनी रँग से लाल।
है सिंदूर-बिन्दु से सज्जित, अब भी कुछ-कुछ उसका भाल॥
अबला है, उसके पैरों में बनी महावर की लाली।
हाथों में मेंहदी की लाली, वह दुखिया भोली-भाली॥
उसी बाग़ की ओर शाम को, जाती हुई दिखाती है।
प्रातःकाल सूर्योदय से, पहले ही फिर आती है॥
लोग उसे पागल कहते हैं, देखो तुम न भूल जाना।
तुम भी उसे न पागल कहना, मुझे क्लेश मत पहुँचाना॥
उसे लौटती समय देखना, रम्य वदन पीला-पीला।
साड़ी का वह लाल छोर भी, रहता है बिल्कुल गीला॥
डायन भी कहते हैं उसको कोई कोई हत्यारे।

उसे देखना, किन्तु न ऐसी ग़लती तुम करना प्यारे।
बाँई ओर हृदय में उसके कुछ-कुछ धड़कन दिखलाती।
वह भी प्रतिदिन क्रम-क्रम से कुछ धीमी होती जाती॥
किसी रोज़, सम्भव है, उसकी धड़कन बिल्कुल मिट जावे।
उसकी भोली-भाली आँखें हाय! सदा को मुँद जावे॥
उसकी ऐसी दशा देखना आँसू चार बहा देना।
उसके दुख में दुखिया बनकर तुम भी दुःख मना लेना॥

(३)

जलियाँवाला बाग़ में बसन्त

यहाँ कोकिला, नहीं काक हैं शोर मचाते।
काले-काले कीट, भ्रमर का भ्रम उपजाते॥
कलियाँ भी अधखिली, मिली हैं कंटक-कुल से।
वे पौधे, वे पुष्प, शुष्क हैं अथवा झुलसे॥
परिमल-हीन पराग दाग़-सा बना पड़ा है।
हा! यह प्यारा बाग़ खून से सना पड़ा है॥
आओ, प्रिय ऋतुराज! किन्तु धीरे से आना।
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना॥
वायु चले, पर मन्द चाल से उसे चलाना।
दुख की आहें संग उड़ाकर मत ले जाना॥
कोकिल गावे, किन्तु राग रोने का गावे।
भ्रमर करें गुंजार, कष्ट की कथा सुनावे॥

लाना सँग में पुष्प, न हों वे अधिक सजीले।
हो सुगंध भी मन्द, ओस से कुछ-कुछ गीले॥
किन्तु न तुम उपहार-भाव आकर दरसाना।
स्मृति में पूजा-हेतु यहाँ थोड़े बिखराना॥
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर।
कलियाँ उनके लिये गिराना थोड़ी लाकर॥
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं।
अपने प्रिय परिवार देश से भिन्न हुए हैं॥
कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना।
करके उनकी याद ओस के अश्रु बहाना॥
तड़प-तड़पकर वृद्ध मरे हैं गोली खाकर।
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम आकर॥
यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे से आना।
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना॥

(४)

साक़ी

अरे! ढाल दे, पी लेने दे! दिल भरकर प्यारे साक़ी।
साध न रह जाये कुछ इस छोटे से जीवन की बाक़ी॥
ऐसी गहरी पिला कि जिससे रङ्ग नया ही छा जावे।
अपना और पराया भूलूँ; तू ही एक नज़र आवे॥
ढाल-ढालकर पिला कि जिससे मतवाला होवे संसार।
साक़ी! इसी नशे में कर लेंगे भारत-माँ का उद्धार॥

(५)

झाँसी की रानी

(१)

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी।
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी॥
गुमी हुई आज़ादी की क़ीमत सब ने पहचानी थी।
दूर फिरङ्गी को करने की सब ने मन में ठानी थी॥
चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।

(२)

कानपूर के नाना की मुँह बोली बहिन 'छबीली' थी।
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी॥
नाना के सँग पढ़ती थी वह नाना के सँग खेली थी।
बरछी, ढाल, कृपाण, कटारी उसकी यही सहेली थी॥
वीर शिवाजी की गाथाएँ उसको याद ज़बानी थी
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी

(३)

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार।

देख मराठे पुलकित होते उसके तलवारों के वार ॥
नक़ली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना ख़ूब शिकार।
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना, ये थे उसके प्रिय खिलवार ॥
महाराष्ट्रकुल-देवी उसकी भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(४)

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में।
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मीबाई झाँसी में ॥
राजमहल में बजी बधाई ख़ुशियाँ छाईं झाँसी में।
सुभट बुँदेलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में ॥
चित्रा ने अर्जुन को पाया, शिव को मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
ख़ूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी ॥

(५)

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छाई।
किन्तु काल-गति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई ॥
तीर चलानेवाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं।
रानी विधवा हुई हाय ! विधि को भी नहीं दया आई ॥
निःसन्तान मरे राजाजी रानी शोक समानी थी।

बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी

❀ ❀ ❀

(६)

रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी।
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी॥
अभी उम्र कुल तेइस की थी मनुज नहीं अवतारी थी।
हमको जीवित करने आई बन स्वतंत्रता नारी थी॥
दिखा गई पथ, सिखा गई हमको जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी।

(७)

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी।
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतंत्रता अविनाशी॥
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी।
हो मदमाती विजय मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी॥
तेरा स्मारक तू ही होगी, तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुख हमने सुनी कहानी थी—
.खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी॥

नीचे जो कविता दी जाती है उसमें श्रीमती सुभद्रा देवी ने

कृष्ण के नाम राखी भेजकर उनसे देश का संकट दूर करने के लिए कटिबद्ध होने की प्रार्थना की है :—

भैया कृष्ण ! भेजती हूँ मैं राखी अपनी, यह लो आज।
कई बार जिसको भेजा है सजा-सजाकर नूतन साज॥
लो आओ, भुजदण्ड उठाओ, इस राखी में बँधजाओ।
भरत-भूमि की रजभूमी को एकबार फिर दिखलाओ॥
वीर चरित्र राजपूतों का पढ़ती हूँ मैं राजस्थान।
पढ़ते-पढ़ते आँखों में छा जाता राखी का आख्यान॥
मैंने पढ़ा, शत्रुओं को भी जब-जब राखी भिजवाई।
रक्षा करने दौड़ पड़ा वह राखीबद्ध शत्रु-भाई॥
किन्तु देखना है, यह मेरी राखी क्या दिखलाती है।
क्या निस्तेज कलाई ही पर बँधकर यह रह जाती है॥
देखो भैया, भेज रही हूँ तुमको-तुमको राखी आज।
साखी राजस्थान बनाकर रख लेना राखी की लाज॥
हाथ काँपता, हृदय धड़कता है मेरी भारी आवाज़।
अब भी चौंक-चौंक उठता है जलियाँ का वह गोलन्दाज़॥
यम की सूरत उन पतितों के पाप भूल जाऊँ कैसे?
अंकित आज हृदय में है फिर मन को समझाऊँ कैसे?
बहिनें कई सिसकती हैं हा! उनकी सिसक न मिट पाई।
लाज गँवाई, गाली पाई तिस पर गोली भी खाई॥
डर है कहीं न मार्शल-ला का फिर से पड़ जाये घेरा॥
ऐसे समय द्रौपदी-जैसा कृष्ण! सहारा है तेरा॥

बोलो, सोच-समझकर बोलो, क्या राखी बँधवाओगे!
भीर पड़ेगी, क्या तुम रक्षा—करने दौड़े आओगे!
यदि हाँ, तो यह लो इस मेरी राखी को स्वीकार करो।
आकर भैया, बहिन "सुभद्रा" के कष्टों का भार हरो॥

निम्नलिखित पंक्तियों में, जो सम्भवतः गत असहयोग आन्दोलन-काल में पंडित माखनलाल चतुर्वेदी की गिरफ़ारी के अवसर पर लिखी गयी थीं, श्रीमती सुभद्रा देवी के देशानुराग का अच्छा परिचय मिलता है :—

"गिरफ़्तार होनेवाले हैं, आता है वारंट अभी।"
धक-सा हुआ हृदय, मैं सहमी, हुए विकल साशङ्क सभी॥
किन्तु सामने दीख पड़े मुस्कुरा रहे थे खड़े-खड़े।
रुके नहीं, आँखों से आँसू सहसा टपके बड़े-बड़े॥
"पगली, यों ही दूर करेगी माता का यह रौरव कष्ट?"
रुका वेग भावों का, दीखा अहा मुझे यह गौरव स्पष्ट॥
तिलक, लाजपत, श्री गांधीजी, गिरफ़्तार बहुबार हुए।
जेल गये, जनता ने पूजा, सङ्कट में अवतार हुए॥
जेल! हमारे मनमोहन के प्यारे पावन जन्म-स्थान।
तुझको सदा तीर्थ मानेगा कृष्ण-भक्त यह हिन्दुस्तान॥
मैं प्रफुल्ल हो उठी कि आहा! आज गिरफ़ारी होगी।
फिर जी धड़का, क्या भैया की सचमुच तैयारी होगी!!
आँसू छलके, याद आगयी, राजपूत की वह बाला।
जिसने विदा किया भाई को देकर तिलक और भाला॥

सदियों सोयी हुई वीरता जागी, मैं भी वीर बनी।
जाओ भैया, विदा तुम्हें करती हूँ मैं गम्भीर बनी॥
याद भूल जाना मेरी उस आँसूवाली मुद्रा की।
कीजे यह स्वीकार बधाई छोटी बहिन 'सुभद्रा' की॥

श्रीमती सुभद्रा को जैसी सफलता देश-विषयक कविताएँ लिखने में मिली है वैसी ही नारी-हृदय के मधुर भावों को अभिव्यक्ति प्रदान करने में भी मिली है, यह पहले ही कहा जा चुका है। उनकी प्रियतम की खोज में मार्मिकता और सरसता है। नीचे की पंक्तियाँ देखिए। वे कहती हैं:—

(१)

हे काले-काले बादल, ठहरो, तुम बरस न जाना।
मेरी दुखिया आँखों से, देखो मत होड़ लगाना॥
तुम अभी-अभी आये हो, यह पल-पल बरस रही हैं।
तुम चपला के सँग खुश हो, यह व्याकुल तरस रही हैं॥
तुम गरज-गरज कर अपनी, मादकता क्यों भरते हो?
इस विधुर हृदय को मेरे, नाहक़ पीड़ित करते हो॥
मैं उन्हें खोजती फिरती, पागल-सी व्याकुल होती।
गिर जाते इन आँखों से, जाने कितने ही मोती॥

(२)

कठिन प्रयत्नों से सामग्री मैं बटोरकर लाई थी।
बड़ी उमंगों से मन्दिर में, पूजा करने आई थी॥

पास पहुँचकर जो देखा तो आह! द्वार खुला पाया।
जिसकी लगन लगी थी उसके दर्शन का अवसर आया॥
हर्ष और उत्साह बढ़ा, कुछ लज्जा, कुछ संकोच हुआ।
उत्सुकता, व्याकुलता कुछ कुछ, कुछ संभ्रम, कुछ सोच हुआ॥
मन में था विश्वास कि उनके अब तो दर्शन पाऊँगी।
प्रियतम के चरणों पर अपना मैं सर्वस्व चढ़ाऊँगी॥
कहदूँगी अन्तरतम की, मैं उनसे नहीं छिपाऊँगी।
मानिनि हूँ, पर मान तजूँगी, चरणों पर बलि जाऊँगी॥
पूरी हुई साधना मेरी, मुझको परमानन्द मिला।
किन्तु बढ़ी तो हुआ अरे क्या? मन्दिर का पट बन्द मिला।
निठुर पुजारी! यह क्या? मुझ पर तुझे तनक न दया आई!
किया द्वार को बन्द हाय! मैं प्रियतम को न देख पाई!
करके कृपा, पुजारी! मुझको ज़रा वहाँ तक जाने दे।
मुझको भी थोड़ी सी पूजा प्रियतम तक पहुँचाने दे॥
छूने दे उनके चरणों को, जीवन सफल बनाने दे।
खोल-खोल दे द्वार, पुजारी! मन की व्यथा मिटाने दे॥
बहुत बड़ी आशा से आई हूँ, मत तू कर मुझे निराश।
एक बार, बस एक बार तू जाने दे प्रियतम के पास॥

प्रियतम की इस खोज में, प्रणय की इस यात्रा में श्रीमती सुभद्रा देवी की प्रणयिनी का उपहास भी हुआ तथा अनेक बाधाएँ उसके सामने आयीं, किन्तु प्रेम के उन्माद ने उसे इस पथ से

विरत नहीं किया। इस प्रसंग में कवि के शब्दों में उसका कथन अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है :—

मेरे भोले सरल हृदय ने कभी न इस पर किया विचार—
विधि ने लिखी भाल पर मेरे सुख की घड़ियाँ दो ही चार!
छलती रही सदा ही आशा मृगतृष्णा-सी मतवाली,
मिली सुधा या सुरा न कुछ भी, रही सदा रीती प्याली।
मेरी कलित कामनाओं की, ललित लालसाओं की धूल,
इन प्यासी आँखों के आगे उड़कर उपजाती है शूल।
उन चरणों की भक्ति-भावना मेरे लिये हुई अपराध,
कभी न पूरी हुई अभागे जीवन की भोली-सी साध।
आशाओं-अभिलाषाओं का एक-एक कर ह्रास हुआ,
मेरे प्रबल पवित्र प्रेम का इस प्रकार उपहास हुआ!
दुःख नहीं सरबस हरने का, हरते हैं, हर लेने दो,
निठुर निराशा के झोंकों को मनमानी कर लेने दो।
हे विधि, इतनी दया दिखाना मेरी इच्छा के अनुकूल—
उनके ही चरणों पर बिखरा देना मेरा जीवन-फूल।

प्रियतम मिले भी तो हृदय में अनुराग की आग लगाकर छिप गये, रूखा व्यवहार करने लगे :—

मेरी जीर्ण-शीर्ण कुटिया में चुपके चुपके आकर।
निर्मोही! छिप गये कहाँ तुम? नाहक आग लगाकर॥
ज्यों-ज्यों इसे बुझाती हूँ—बढ़ती जाती है आग।
निठुर! बुझा दे, मत बढ़ने दे, लगने दे मत दाग॥

ाँ तक हुई परीक्षा अब रूखा व्यवहार न हो।
तो लिया करो तुम चाहे मुझपर प्यार न हो॥
कर रही सदा मैं जिसकी अब भी कहलाती।
बहुत दिन इन व्यवहारों को टूक-टूक फिर हो छाती!
अजी बोल
जिसकी है ❀ ❀
क्यों न देख

हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं।
❀ बहुमूल्य भेंट वे कई रङ्ग के लाते हैं॥
ा से साज-बाज से वे मन्दिर में आते हैं।
देव ! तु णि बहुमूल्य वस्तुएँ लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥
सेवा में ग़रीबिनी ऐसी जो कुछ साथ नहीं लाई।
धूम-धाम साहसकर मन्दिर में पूजा करने को आई॥
मुक्ता-म नैवेद्य नहीं है, झाँकी का श्रृंगार नहीं।
मैं ही हूँ ले में पहनाने को फूलों का भी हार नहीं॥
फिर भी तुति करूँ तुम्हारी ? है स्वर में माधुर्य नहीं।
धूप-दीप भाव प्रगट करने को, वाणी में चातुर्य नहीं॥
हाय ! ग न है, नहीं दक्षिणा खाली हाथ चली आई।
मैं कैसे विधि नहीं जानती फिर भी नाथ ! चली आई॥
मन का र पुजापा प्रभुवर ! इसी पुजारिन को समझो।
नहीं दा णा और निछावर इसी भिखारिन को समझो॥
पूजा की , प्रेम की लोभी हृदय दिखाने आई हूँ।
पूजा औ , बस यही पास है, इसे चढ़ाने आई हूँ॥
दान-दक्षि
मैं उन्मत

चरणों पर अर्पित है इसको चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है, ठुकरा दो या प्यार करो॥

श्रीमती सुभद्रादेवी ने अपनी उक्त पंक्तियों में निराश प्रणयिनी का जो चित्र अंकित किया है, निम्नलिखित पंक्तियों की व्यंजना उसके रंग को और भी गहरा बनाती है:—

यह मुरझाया हुआ फूल है, इसका हृदय दुखाना मत।
स्वयं बिखरनेवाली इसकी, पंखड़ियाँ बिखराना मत॥
गुज़रो अगर पास से इसके इसे चोट पहुँचाना मत।
जीवन की अंतिम घड़ियों में, देखो, इसे रुलाना मत॥
अगर हो सके तो ठंढी—बूँदें टपका देना प्यारे।
जल न जाय संतप्त हृदय, शीतलता ला देना प्यारे॥

डाल पर के मुरझाये फूल! हृदय में मत कर वृथा गुमान।
नहीं हैं सुमनकुञ्ज में अभी इसीसे है तेरा सम्मान॥
मधुप जो करते अनुनय विनय वे तेरे चरणों के दास।
नई कलियों को खिलती देख नहीं आवेंगे तेरे पास॥
सहेगा वह कैसे अपमान? उठेगी वृथा हृदय में शूल।
भुलावा है, मत करना ग , डाल पर के मुरझाये फूल!!

श्रीमती सुभद्रादेवी की प्रणयिनी राधा को अपने लिए अनुकरणीया और आदर्शरूपा मानती है:—

थी मेरा आदर्श बालपन से तुम मानिनि राधे!
तुम-सी बन जाने को मैंने व्रत नियमादिक साधे॥
अपने को माना करती थी मैं वृषभानु-किशोरी।
भाव-गगन के कृष्ण-चन्द्र की थी मैं चतुर चकोरी॥
था छोटा सा गाँव हमारा छोटी-छोटी गलियाँ।
गोकुल उसे समझती थी मैं गोपी सँग की अलियाँ॥
कुटियों में रहती थी, पर मैं उन्हें मानती कुंजें।
माधव का संदेश समझती सुन मधुकर की गुंजें॥
बचपन गया, नया रँग आया और मिला वह प्यारा।
मैं राधा बन गई, न था वह कृष्णचन्द्र से न्यारा॥

परन्तु सुभद्रा की प्रणयिनी की कठिनाई यह है कि वे राधा तरह सहनशील नहीं है। वह अपने प्रेमपात्र को अपने हृदय प्रेमोपहार औरों को भी मुक्तहस्त होकर बाँटते नहीं देख सक इस प्रसंग में उन्होंने जो भाव व्यक्त किये हैं वे सचमुच मधुर वे आगे कहती हैं:—

किन्तु कृष्ण यह कभी किसी पर ज़रा प्रेम दिखलाता।
नख सिख से मैं जल उठती हूँ खानपान नहिं भाता॥
खूनी भाव उठें उसके प्रति जो हो प्रिय का प्यारा।
उसके लिये हृदय यह मेरा बन जाता हत्यारा॥
मुझे बता दो मानिनि राधे! प्रीति-रीति यह न्यारी।
क्योंकर थी उस मनमोहन पर अविचल भक्ति तुम्हारी?

तुम्हें छोड़कर बन बैठे जो मथुरा-नगर-निवासी।
कर कितने ही ब्याह, हुए जो सुख सौभाग्य-विलासी॥
सुनती उनके गुण-गण को ही उनको ही गाती थी।
उन्हें यादकर सब कुछ भूली उन पर बलि जाती थी॥
नयनों के मृदु फूल चढ़ाती मानस का मूरति पर।
रही ठगी-सी जीवन भर उस क्रूर श्याम-सूरत पर॥
श्यामा कहलाकर, हो बैठी बिना दाम की चेरी।
मृदुल उमङ्गों की तानें थीं—तू मेरा, मैं तेरी॥
जीवन का न्योछावर हा हा! तुच्छ उन्होंने लेखा।
गये, सदा के लिए गये फिर कभी न मुड़कर देखा॥
अटल प्रेम फिर भी कैसे है कह दो राधारानी!
कह दो मुझे, जली जाती हूँ, छोड़ो शीतल पानी॥
ले आदर्श तुम्हारा, रह-रह मन को समझाती हूँ।
किन्तु बदलते भाव न मेरे शान्ति नहीं पाती हूँ॥

राधा के प्रति श्रीमती सुभद्रा की प्रणयिनी का बहुत अधिक श्रद्धा-भाव है। वह समझती है कि राधा ने क्षमाभाव-पूर्वक श्रीकृष्ण को अन्य गोपियों के अनुराग-पात्र में बद्ध होने दिया। किंतु, यह बात ठीक नहीं। राधा का हृदय स्वाभाविकता से परे न था, परन्तु परिस्थिति यदि विवशता का पाठ पढ़ने के लिए वाध्य करे तो बुद्धिमती प्रेमिका धैर्य के अतिरिक्त अन्य किस मार्ग का अवलम्बन कर सकती है? पाश्चात्य सभ्यता की उपासिका, किन्तु प्रणय के प्रखर बाण से मर्माहत महिलाओं को भी ऐसी विवशतामयी परिस्थितियों में

'सम्बन्ध-विच्छेद' में नहीं, किन्तु प्रणय की त्यागमूलक मन का विश्राम ढूँढ़ना पड़ा है। सुभद्रादेवी की प्रणयिनी ने वास्तव में, अन्ततोगत्वा राधा का अनुसरण किया है। वह शब्दों में कहती है :—

> तुम मुझे पूछते हो—"जाऊँ" मैं क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो!
> "जा..." कहते रुकती है ज़बान किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो!
> सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
> उन कृपा-कटाक्षों का बदला बलि होकर जहाँ चुकाना था।
> मैं सदा रूठती ही आई प्रिय! तुम्हें न मैंने पहिचाना।
> वह मान बाण-सा चुभता है अब देख तुम्हारा यह जाना।

उचित अपराध के बदले में रोष और, मान का भाव प्रदर्शित करनेवाली इस प्रेमिका ने, देखिए, कितना गहरा व्यङ्गभाव प्रदर्शित किया है! वह बेचारी उलटा पछता रही है कि मैंने मान क्यों किया!! यही नहीं, सुभद्रा देवी की प्रेममयी नारी ने तो राधा के जीवन के साथ अपने जीवन को लय कर दिया है। राधा के परकीयत्व को ग्रहण करके वह पूर्ण-रूपेण आधुनिक युग की राधा ही बन गयी है। नीचे की पंक्तियाँ देखिए :—

> लगे आने हृदय धन से—कहा मैंने कि मत आओ।
> कहीं हो प्रेम में पागल न पथ में ही मचल जाओ॥
> कठिन है मार्ग, मुझको मञ्जिलें वे पार है करनी हैं।
> उमङ्गों की तरङ्गें बढ़ पड़ें—शायद फिसल जाओ॥

तुम्हें कुछ चोट आ जाये कहीं लाचार लौटूँ मैं।
हठीले प्यार से व्रत-भङ्ग की घड़ियाँ निकट लाओ।

श्रीमती सुभद्रादेवी की यह परकीया नायिका-सृष्टि अत्यन्त मधुर और अनुपम है। प्रेमिका अपने व्रत पर आरूढ़ है; उसका निर्वाह कर ले जाने की उसे बहुत चिन्ता है, किन्तु हठीले प्रेमिक के अनुरोधों के कारण भी असमंजस में पड़ रही है। यदि प्रेमिक की 'उमंगों की तरंगें' बढ़ती ही गयीं तो उसे 'कुछ चोट' आ जाने और प्रेमिका के लाचार होकर लौट आने की आशंका है, और इस प्रकार शायद प्रेमिका के व्रतभग की घड़ियाँ निकट आ जायँ। कैसी चिन्ता-जनक परिस्थिति है! प्रेमिका प्रेमिक के अनुरोध के सामने नत होकर भी नत होना नहीं चाहती! इस विषमतामयी स्थिति के अंकन में उस कला का विकास हुआ है जो सुभद्रा देवी का स्थान मीराबाई को छोड़कर अन्य समस्त महिला कवियों से ऊँचा उठाता है।

सुभद्राजी ने अपने खोये हुए बचपन को सन्तति के रूप में प्राप्त करके उन लोगों को संतोष-लाभ का एक अनूठा मार्ग प्रदर्शित किया है जो बचपन की याद में आहें भरा करते हैं। अपनी नन्हीं-सी बालिका को लक्षित करके उन्होंने कुछ बहुत सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं। पाठक उन्हें नीचे देखें :—

(१)

मेरा नया बचपन

बार बार आती है मुझको मधुर याद बचपन तेरी।
गया, ले गया तू जीवन की—सबसे मस्त खुशी मेरी॥

चिन्ता-रहित खेलना-खाना, वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द।
कैसे भूला जा सकता है, बचपन का अतुलित आनंद!
ऊँच-नीच का ज्ञान नहीं था, छुआछूत किसने जानी?
बनी हुई थी, अहा! झोपड़ी और चीथड़ों में रानी॥
किये दूध के कुल्ले मैंने, चूस अँगूठा सुधा पिया।
किलकारी कल्लोल मचाकर सूना घर आबाद किया॥
रोना और मचलजाना भी, क्या आनन्द दिखाते थे!
बड़े बड़े मोती-से आँसू, जयमाला पहनाते थे॥
मैं रोई, माँ काम छोड़कर, आई, मुझको उठा लिया।
झाड़-पोंछकर चूम-चूम, गीले गालों को सुखा दिया॥
दादा ने चंदा दिखलाया, नेत्र-नीर-युत चमक उठे।
धुली हुई मुसकान देखकर, सबके चेहरे चमक उठे॥
वह सुख का साम्राज्य छोड़कर मैं मतवाली बड़ी हुई।
लुटी हुई, कुछ ठगी हुई-सी, दौड़ द्वार पर खड़ी हुई॥
लाज भरी आँखें थीं मेरी, मन में उमँग रँगीली थी।
तान रसीली थी कानों में, चंचल छैल छबीली थी॥
दिल में एक चुभन-सी थी यह दुनिया सब अलबेली थी।
मन में एक पहेली थी, मैं सब के बीच अकेली थी॥
मिला, खोजती थी जिसको, हे बचपन! ठगा दिया तूने।
अरे! जवानी के फंदे में मुझको फँसा दिया तूने॥
सब गलियाँ उसकी भी देखीं, उसकी खुशियाँ न्यारी हैं।
प्यारी, प्रीतम की रँगरलियों, की स्मृतियाँ भी प्यारी हैं॥

माना मैंने युवा-काल का जीवन खूब निराला है।
आकांक्षा, पुरुषार्थ, ज्ञान का उदय मोहनेवाला है॥
किन्तु यहाँ झंझट है भारी, युद्ध-क्षेत्र संसार बना।
चिन्ता के चक्कर में पड़कर जीवन भी है भार बना॥
आजा, बचपन ! एक बार फिर, दे दे अपनी निर्मल शांति।
व्याकुल व्यथा मिटानेवाला, वह अपनी प्राकृत विश्रांति॥
वह भोली-सी मधुर सरलता, वह प्यारा जीवन निष्पाप।
क्या फिर आकर मिटा सकेगा, तू मेरे मन का संताप ?
मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन वन-सी फूल उठी यह, छोटी-सी कुटिया मेरी॥
"माँ ओ" कहकर बुला रही थी, मिट्टी खाकर आई थी।
कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में, मुझे खिलाने आई थी॥
पुलक रहे थे अंग, दृगों में, कौतूहल था छलक रहा।
मुख पर थी आह्लाद-लालिमा, विजय-गर्व था झलक रहा॥
मैंने पूछा—"यह क्या लाई ?" बोल उठी वह—"माँ, काओ।"
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से, मैंने कहा—'तुम्हीं खाओ॥'
पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया।
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर, मुझमें नवजीवन आया॥
मैं भी उसके साथ खेलती, खाती हूँ तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं मैं भी, बच्ची बन जाती हूँ॥
जिसे खोजती थी, बरसों से अब जाकर उसको पाया।
भाग गया था मुझे छोड़कर, वह बचपन, फिर से आया॥

(२)

बालिका का परिचय

यह मेरी गोदी की शोभा, सुख-सुहाग की है लाली।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली॥
दीप-शिखा है अन्धकार की, घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल-भृङ्ग की, है पतझड़ की हरियाली॥
सुधाधार यह नीरस दिल की, मस्ती मगन तपस्वी की।
जीवित ज्योति नष्ट नयनों की, सच्ची लगन मनस्वी की॥
बीते हुए बालपन की यह, क्रीड़ा-पूर्ण वाटिका है।
वही मचलना, वही किलकना, हँसती हुई नाटिका है॥
मेरा मन्दिर, मेरी मसजिद, काबा-काशी यह मेरी।
पूजा-पाठ ध्यान, जप, तप है, घट-घटवासी यह मेरी॥
कृष्ण-चन्द्र की क्रीड़ाओं को, अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृमोद को, अपने ही मन में लेखो॥
प्रभु ईसा की क्षमा-शीलता, नबीमुहम्मद का विश्वास।
जीव दया जिनवर गौतम की, आओ देखो इसके पास॥
परिचय पूछ रहे हो मुझसे, कैसे परिचय दूँ इसका।
वही जान सकता है इसको, माता का दिल है जिसका॥

(३)

इसका रोना

तुम कहते हो—मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है।
मैं कहती हूँ, इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है॥

सच कहती हूँ इस रोने की छवि को ज़रा निहारोगे।
बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदों—पर मुक्तावलि वारोगे॥
ये नन्हें-से ओंठ और यह लम्बी-सी सिसकी देखो।
यह छोटा-सा गला और यह गहरी-सी हिचकी देखो॥
कैसी करुणा जनक दृष्टि है! हृदय उमड़कर आया है।
छिपे हुए आत्मीय भाव को यह उभाड़कर लाया है॥
हँसी बाहिरी चहल-पहल को ही बहुधा दरसाती है।
पर रोने में अन्तरतम तक की हलचल मच जाती है॥
जिससे सोयी हुई आत्मा जगती है, अकुलाती है।
छूटे हुए किसी साथी को अपने पास बुलाती है॥
मैं सुनती हूँ कोई मेरा मुझको अहा! बुलाता है।
जिसकी करुणापूर्ण चीख़ से मेरा केवल नाता है॥
मेरे ऊपर वह निर्भय है खाने, पीने, सोने में।
जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में ज्यों रोने में॥
मैं हूँ उसकी प्रकृत सङ्गिनी उसकी जन्म-प्रदाता हूँ॥
वह मेरी प्यारी बिटिया है मैं ही उसकी माता हूँ।
तुमको सुनकर चिढ़ आती है मुझको होता है अभिमान॥
जैसे भक्तों की पुकार सुन गर्वित होते हैं भगवान।

सुभद्राजी को कुछ समय तक, शायद प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण, कविता के क्षेत्र से पृथक हो जाना पड़ा था। नीचे की पंक्तियों में उन्होंने अपनी इस स्थिति को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है :—

चिन्ता की चादर ओढ़े, मेरी कविता सोती है।
वह मृदुल भावना दिल की, अब मूक बनी रोती है॥
कहते हो—लिखा करूँ कुछ, क्या लिखूँ तुम्हीं बतलाओ!
मैं भूल गई हूँ यह पथ, हे मित्र द्वार दिखलाओ!
क्या अपनी ही लिख दूँ मैं, नीरस-सी करुण कहानी!
पर किस मतलब का होगा, आँखों का खारा पानी!
बस, इसीलिये मैं चुप हूँ, तुम इतनी दया दिखाना।
मत मुझे छेड़कर दिल के फोड़े को अधिक दुखाना॥

यही भाव उनकी निम्नलिखित कविता में भी व्यक्त हुआ है जो झाँसी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में लेखिका द्वारा पढ़ी गयी थी:—

सहसा हुई पुकार! मातृ-मन्दिर में मुझे बुलाया क्यों!
जान बूझकर सोयी थी! फिर जननी! उसे जगाया क्यों!
भूल रही थी स्वप्न देखना आमन्त्रण पहुँचाया क्यों!
करने जाती द्वार बन्द थी, फिर पथ हाय सुझाया क्यों!
मान मातृ-आदेश दौड़कर आने को लाचार हुई!
क्या? मेरी टूटी फूटी सी सेवा है स्वीकार हुई॥
स्वयम् उपेक्षित पर गुरुजन का पथ-भूला दुलार कैसा!
तिरस्कार के योग्य बावली पर यह अतुल प्यार कैसा!
इस बुन्देलों की झांसी में शब्दों बिना तार कैसा!
देश-प्रेम की मतवाली को, जननी पुरस्कार! कैसा!
घबरायी हूँ, सुख पाने दे, वात्सल्यामृत की धारों से।

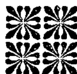
बनने दे इतिहास देश का पानी चढ़े दुधारों से॥
जरा सुलग जाने दे चारों दिशि कुरबानी की आगी।
अरी बेतवा दिखा समर में तेरे पानी की आगी॥
हर पत्थर पर लिखा जहाँ बलिदान लछमीबाई का।
कौन मूल्य है वहाँ सुभद्रा की कविता-चतुराई का?
न्यौता? न्यौते का जवाब, मैं न्यौता देने आयी हूँ।
भाई! दो, मैं तिलक-लालिमा अपने साथ न लायी हूँ॥
आज तुम्हारी लाली से माँ के मस्तक पर हो लाली।
काली जंजीरें टूटें काली यमुना में हो लाली॥
जो स्वतन्त्र होने को हैं पावन दुलार उन हाथों का—
स्वीकृत है माँ की वेदी पर पुरस्कार उन हाथों का॥
लड़ने की धुन में भाई! ममता का मधुर स्वाद कैसा?
अपनों ही में अपनों का, डरती हूँ—धन्यवाद कैसा?

हर्ष की बात है, अब यह मनोभाव आत्म-स्मृति में परिणत हो गया है।

अपने कविता-कानन की, मैं हूँ कोयल मतवाली।
मुझसे मुखरित हो जाती, उपवन की डाली-डाली॥
मैं जिधर निकल जाती हूँ, मधुमास वहीं आता है।
नीरस जन के जीवन में, रस घोल-घोल जाता है॥
सूखे सुमनों के दल पर, मैं मधुसञ्चालन करती।

मैं प्राणहीन का अपने, प्राणों से पालन करती॥
मेरे जीवन में जाने, कितना मतवालापन है।
कितना है प्राण छलकता, कितना मधु-मिश्रित मन है॥
दोनों हाथों से भर-भर इस मधु को सदा लुटाती।
फिर भी न कमी होती है, प्याली भरती ही जाती!!

सुभद्राजी ने इन पंक्तियों में अपने जिस रूप का अंकन किया है, ईश्वर करे वह हिन्दी-संसार के लिए मधुर फलप्रद सिद्ध हो।



तृतीय भाग



श्रीमती महादेवी वर्मा

महादेवी वर्म्मा ⚜ ⚜ ⚜

श्रीमती सुभद्राकुमारी की कविता जिन दिनों 'चिन्ता की चादर ओढ़े' सो रही थी, उन्हीं दिनों प्रयाग की एक छात्रा ने काव्याराधना की ओर प्रवृत्ति दिखायी थी। आजकल जिन श्रीमती महादेवी वर्म्मा के यश से हिन्दी-संसार गूँज रहा है, उनकी साहित्य-सेवा का बाल्यकाल उसी छात्रा की रचनाओं की तुतली भाषा को लेकर प्रकट हुआ था।

कवीन्द्र रवीन्द्र को सन् १९१४ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक "गीतांजलि" के लिए सम्मानित नोबेल-पुरस्कार प्राप्त हुआ। नीरस, प्रकृत उद्गार-शून्य तथा कृत्रिमता-पीड़ित भारत-गीतों की झाड़ी में उलझी हुई हिन्दी-कविता ने, कवीन्द्र की यशस्वी लेखनी से लालित-पालित बंग-कविता के भाग्य के प्रति, स्वभावतः ही ईर्ष्या का अनुभव किया। इस ईर्ष्या ने अनुकरण के भाव को प्रोत्साहित किया और उक्त पुरस्कार की घोषणा के अगले दशक

में ही हिन्दी-काव्य की काया ही पलटने लगी। कवीन्द्र के का
में रहस्यवाद बड़े मनोहर रूप में विकसित हुआ है। हिन्दी
कवियों ने भी रहस्यवाद के उद्यान में विचरण करने का निश्च
किया। बाबू जयशंकरप्रसाद, पंडित सुमित्रानन्दन पंत और पंडि
सूर्य्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस पथ के पथिकों में विशेष रू
से उल्लेख-योग्य हैं। अभी यह प्रश्न विवाद-ग्रस्त है कि इ
सज्जनों की कविता में रहस्यवाद है या नहीं; किन्तु यह तो निश्चि
है कि गीतिकाव्य के साहित्य को श्रीसम्पन्न करने का श्रेय इ
अवश्य मिलेगा।

महिलाओं में श्रीमती महादेवी वर्म्मा ने सब से प्रथम हिन्दी
काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति को हृदयंगम किया और उक्त महा
भावों द्वारा प्रचारित प्रणाली को अपनाया। यह निस्संकोच भा
से कहा जा सकता है कि देवीजी की कुछ कविताओं में उच्च
की सौन्दर्य्य-सृष्टि हुई है। वर्तमान समय की अनेक महिला
काव्य-रचना में, इन्हीं का पथानुसरण कर रही हैं।

श्रीमती महादेवी वर्म्मा का जन्म संवत् १९६४ में बाबू गोवि
प्रसाद एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, फर्रुखाबाद निवासी, के यह
हुआ। ग्यारह वर्ष ही की अवस्था में आपका विवाह हो गय
और कुछ समय तक आपके साहित्यिक विकास में रुकावट प
गयी। किन्तु अनुकूल परिस्थितियों के आने पर आपने अप
अध्ययन का क्रम फिर चलाया और बी० ए० कक्षा में पहुँच
पहुँचते कविता की ओर भी कुछ प्रगति की। हाल ही में आप

काव्य-संग्रह, "नीहार" तथा "रश्मि" प्रकाशित हुए हैं। इन रचनाओं का हिन्दी-पाठकों ने खूब आदर किया है।

नीहार की भूमिका में श्रीमती महादेवी वर्म्मा की कविता के सम्बन्ध में महाकवि 'हरिऔध' ने इस प्रकार लिखा है:—

"थोड़े समय में भी कतिपय छायावादी कवियों ने हिन्दी-संसार में कीर्त्ति अर्जन की है और उनमें पर्य्याप्त भावुकता का विकास देखा गया है। उन्होंने अपने गहन पथ को सरल बनाया और कोमल कान्त पदावली पर अधिकार करके बड़ी भावमयी कविताएँ की हैं। उन्हीं में से एक श्रीमती महादेवी वर्म्मा कवयित्री भी हैं।"

अपने कथन के अंतिम अंश में 'हरिऔध' महोदय ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में महादेवी जी का सादर अभिनन्दन किया है और प्रार्थना की है कि "उनकी हृत्तंत्री की अपूर्व झङ्कार में भारतमाता के कण्ठ की वर्तमान ध्वनि भी श्रुत होनी चाहिए। "हरिऔध" जी के मतानुसार "माता की व्यथाओं के अनुभव करने की मार्मिकता मातृत्व-पद की अधिकारिणी को ही यथातथ्य हो सकती है।"

हमारी वर्तमान राष्ट्रीय और सामाजिक स्थिति ठीक नहीं है। पग-पग पर हमारा अपमान हो रहा है, बात-बात में हम नीचा देख रहे हैं। इस सामाजिक दुर्दशा का करुण चित्र भारतेन्दु ने अमर पंक्तियों में इस प्रकार अंकित किया है—

सब भाँति दैव प्रतिकूल होइ यहि नासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥
अब सुख-सूरज को उदय नहीं इत ह्वैहै।
सो दिन फिर इत अब सपनेहूँ नहिं ऐहै॥
स्वाधीनपनो बल धीरज सबै नसैहै।
मंगलमय भारत-भुवि मसान ह्वै जैहै॥
दुख ही दुख करिहै चारिहुँ ओर प्रकासा।
अब तजहु बीरवर भारत की सब आसा॥

इन सरल अलंकार-शून्य पंक्तियों में कवि ने अपनी जि वेदना का अंकन किया है, वह संभवतः भारतेन्दु ही के साथ हृदय के साथ चली गयी; इस वेदना का अभाव हमें आज तक खटक रहा है। निस्सन्देह, भारत की आर्त्त अवस्था का उल्लेख भारतेन्दु के बाद प्रायः प्रत्येक कवि ने अपनी कविता में किया है, परन्तु भारतेन्दु की मर्म्मभेदिनी पीड़ा का उसमें कहीं अस्तित्व नहीं देखा जाता। इस क्षेत्र में आज तक उस कवि की प्रतीक्षा ही हो रही है जो हृदय के अन्तरतम प्रदेश में अनुभव किये हुए, अपने कष्ट को भाषा में मूर्त्त रूप प्रदान करके हमारी कल्पना को उत्तेजित और कार्य्यकारिणी शक्ति को जागृत करने का सफल प्रयत्न करे। पता नहीं, महाकवि "हरिऔध" ने महादेवीजी की प्रतिभा को विकास-दिशा को हृदयंगम करने के बाद भी उन्हें उक्त प्रतीक्षित कवि के उच्च पद पर आरूढ़ होने तथा उँगलियों में खून लगाकर शहीद बनने के लिए क्यों प्रेरित किया।

यहाँ हमें एक कहानी का स्मरण हो आता है। एक राजा के जंगल में अचानक आग लग गयी। बहुत से अच्छे पेड़ जले जाने लगे। राजा की सेनाएँ, दुर्भाग्य से एक आक्रमणकारी का सामना कर रही थीं; उन्हें आग बुझाने के सम्बन्ध में कुछ सोचने-विचारने का अवकाश नहीं था। अतएव अन्य राज-कर्म्मचारियों ने अपनी मनमानी व्यवस्था की। घोषणा की गयी कि राजधानी के सभी व्यक्ति आग बुझाने के काम में सहयोग करें। बड़ी सख्ती के साथ इस आज्ञा का पालन कराया जाने लगा; यहाँ तक कि एक शिवाले में पड़े हुए दो व्यक्ति भी, जिनमें से एक पंगु था, और दूसरा लँगड़ा तथा अंधा था—सिपाहियों द्वारा पकड़ लाये गये, और उन्हें भी हिदायत की गयी कि कुएँ में से पानी निकाल निकालकर वे जंगल की आग में छोड़ें। ये बेचारे भला कर ही क्या सकते थे? इन्होंने बारम्बार अपनी असमर्थता प्रकट की, एक कोने में पड़े रहकर राम-नाम का भजन करने की अनुमति माँगी, उनके लिए ईश्वर के आशीर्वाद का सहस्र वार आवाहन करने की प्रतिज्ञा की। किन्तु सब व्यर्थ! राज-कर्म्मचारियों ने कुछ भी न सुना। अंत में इन दोनों असहायों की जो दशा हुई उसका वर्णन एक करुण कहानी है; उसे सुनाकर पाठकों का हृदय दुखाना व्यर्थ है।

हमारे देश और समाज की प्रस्तुत दशा उस जंगल की दशा से कम भयंकर नहीं है। निस्संदेह हममें से हर एक को यथाशक्ति समाज की सेवा में लग जाना चाहिए; कवियों को भी इस कर्त्तव्य-

पालनकी ओर ध्यान देना चाहिए। किन्तु यदि [illegible] ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं है तो मरहठों की तरह हम वसूल करने की कोशिश क्यों करें ?

श्रीमती महादेवी वर्म्मा की कविता का विषय देश अथवा समाज नहीं है, उस ओर उनके व्यक्तित्व की प्रवृत्ति नहीं है। उनकी रचनाओं में प्रकट रूप से विषाद की प्रचुरता देखी जाती है। किन्तु वह विषाद अपने पड़ोसी की हृदय-द्रावक दशा की प्रेरणा का फल नहीं है; व्यक्तिगत कथाओं की तीव्र अनुभूति भी उसका उद्गम-स्थल नहीं है; अपनी कामनाओं की पूर्ति में त्रुटियों की कल्पना करके ही उन्होंने अपने दुःख की सृष्टि की है। "कल्पना" शब्द का प्रयोग हम यहाँ जान-बूझकर कर रहे हैं। वास्तव में श्रीमतीजी की वेदना किसी यथार्थता से प्रसूता नहीं है; उनका दुःख वैसा ही है जैसा किसी अमीर आदमी का, मनो-रंजन के लिए, पैदल चलना। निस्सन्देह इस तरह के पैदल चलने में भी, चलनेवाले की उच्च स्थिति के कारण तथा उसकी सेवा के लिए तैयार रहनेवाले वाहनों की प्रचुरता की अवस्था में, एक अनुपम सौन्दर्य्य का प्रादुर्भाव हो जाता है; किन्तु पैदल चलने के विज्ञान की दृष्टि से उसमें कृत्रिमता का दर्शन हुए बिना नहीं रहेगा। श्रीमतीजी का दुःख उनका सैरगाह हो है, यह उनकी निम्न-लिखित पंक्तियों से भी प्रकट होता है :—

"अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख के धूपछाँही डोरों से बुने हुए

[ज]ीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह [ब]हुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। क्यों का उत्तर दे सकना [मे]रे लिए भी किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। [सं]सार जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे [प]ास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और [ब]हुत मात्रा में सब कुछ मिला है परन्तु उस पर दुःख की छाया [न]हीं पड़सकी। कदाचित यह उसी को प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे [इ]तनी मधुर लगती है।"

देवीजी की उक्त पंक्तियों को पढ़ने के बाद हम अपनी तुच्छ सम्मति उनकी सेवा में समर्पित करने की यहाँ जो धृष्टता करेंगे, उसमें, वे विश्वास रक्खें, दोष-दर्शन की प्रवृत्ति कम, हृदय के सच्चे भाव को—विशेष करके जब उसकी उपयोगिता में भी अटूट विश्वास हो—व्यक्त कर देने की उत्कण्ठा अधिक है। हमारा मत है कि वेदना के हवाई क़िले बनाकर हम अपनी सच्ची करुणा-भावना के लिए सुरक्षित स्थान नहीं निर्म्मित करते; जिस पीड़ा में सत्य नहीं, जिसमें अनुभव की गहराई नहीं वह मनोमोहक भले ही हो, किन्तु हृदय-द्रावक नहीं हो सकती।

जिसकी अपनी ही वेदना में सत्यता नहीं, उसे पड़ोसी के प्रति सहानुभूति नहीं हो सकती। ऐसी दशा में उनसे देश की वेदना को अंकित करनेवाली कविताओं की आशा करना व्यर्थ है। यह सौभाग्य श्रीमती सुभद्राकुमारी ही को प्राप्त हो सका है।

महादेवीजी की रचनाओं का अध्ययन करते समय यदि हम उक्त बात को स्मरण रक्खें तो उस लक्ष्य-शून्य, केन्द्र-शून्य भावुकता का—जो उनकी रचनाओं में प्रायः पायी जाती है—रहस्य हमारे सामने स्पष्ट हुए बिना न रहेगा। नीचे की पंक्तियों में हमें उक्त असंयत भावुकता ही के दर्शन होते हैं :—

(१)

उच्छ्वासों की छाया में, पीड़ा के आलिङ्गन में,
निश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में;
सूने मानस मन्दिर में, सपनों की मुग्ध हँसी में;
आशा के आवाहन में, बीते की चित्र-पटी में।
उन थकी हुई सोती सी, ज्योत्स्ना की पलकों में,
बिखरी उलझी हिलती सी, मलयानिल की अलकों में;
रजनी के अभिसारों म, नक्षत्रों के पहरों में;
ऊषा के उपहासों में, मुस्काती सी लहरों में।
जो बिखर पड़े निर्जन में, निर्भर सपनों के मोती,
मैं ढूंढ़ रही थी लेकर, धुंधली जीवन की ज्योती;
उस सूने पथ में अपने, पैरों की चाप छिपाये;
मेरे नीरव मानस में, वे धीरे-धीरे आये।
मेरी मदिरा मधुवाली, आकर सारी ढुलका दी,
हँसकर पीड़ा से भर दी, छोटी जीवन की प्याली।
मेरी बिखरी वीणा के, एकत्रित कर तारों को,

टूटे सुख के सपने दे, अब कहते हैं गाने को,
यह मुरझाये फूलों का, फीका-सा मुस्काना है,
यह सोती-सी पीड़ा को, सपनों से ठुकराना है।
गोधूली के ओठों पर, किरणों का बिखराना है;
यह सूखी पंखड़ियों में मारुत का इठलाना है॥

इस मीठी-सी पीड़ा में, डूबा जीवन का प्याला,
लिपटी-सी उतराती है, केवल आँसू की माला !

(२)

इन हीरक-से तारों को, कर चूर बनाया प्याला,
पीड़ा का सार मिलाकर, प्राणों का आसव ढाला।
मलयानिल के झोकों में, अपना उपहार लपेटे,
मैं सूने तट पर आई, बिखरे उद्‌गार समेटे।
काले रजनी-अञ्चल में, लिपटी लहरें सोती थीं,
मधु मानस का बरसाती, वारिदमाला रोती थी।
नीरव तम की छाया में, छिप सौरभ की अलकों में,
गायक वह गान तुम्हारा, आ मँडराया पलकों में !
हाला-सी, हालाहल-सी, वह गई अचानक लहरी,
इमा जग भूला तन मन, आँखें शिथिलाईं सिहरीं !
बेसुध से प्राण हुए जब, छूकर उन झङ्कारों को,
उड़ते थे, अकुलाते थे, चुम्बन करने तारों को।

उस मतवाली वीणा से, जब मानस था मतवाला,
वे मूक हुईं झङ्कारें, वह चूर हो गया प्याला।
होगईं कहाँ अन्तर्हित सपने लेकर वे रातें!
जिनका पथ आलोकित कर, बुझने आती हैं आँखें!

हिन्दी की वर्तमानकालीन कविताओं में एक उल्लेख विशेषता यह देखने में आती है कि कविगण प्राकृतिक प में मानवता-भाव का आरोप करके उन्हें हमारे जीवन के अ निकट लाने का उद्योग करते हैं। काव्य में अपूर्व माधुर्य करने का यह एक मूल्यवान साधन है। अल्पाधिक मात्रा में प्रवृत्ति प्रत्येक अच्छे साहित्यकार में देखी जाती है। एक अँ विद्वान् ने भी इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में इस प्र कहा है* :—

* Primitive literature shows that the use this figure (personification) was one of the ea est devices of poetic expression. When stars a winds and thunder were not yet capable of scient fic explanation they remained the subject o superrstition, Natural phenomena were com monly regarded as being of good or evil intent that is, they were credited with personalities. Ea was a beneficent being, Thunder a malignant ent

"आदिकालीन साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि …य की अभिव्यक्ति में मानवता-भाव-समारोप की प्रणाली बहुत …य से प्रचलित है। जिस समय तारागण, पवन और वज्र … वैज्ञानिक मीमांसा नहीं हो सकी थी उस समय वे अन्ध-विश्वास … विषय थे।

… प्राकृतिक पदार्थों में कल्याण अथवा अनिष्ट करने की मनोवृत्ति … सत्ता का साधारणतया विश्वास किया जाता था। अर्थात् … माना जाता था कि उनमें व्यक्तित्व है। वर्षा उपकारक और … अनिष्टकारक समझा जाता था।

… ज्योतिर्विज्ञान की प्रगति ने भी सूर्य, चन्द्रमा और ताराओं … व्यक्तित्व से वंचित नहीं कर दिया है, यह कविता के सौभाग्य … बात है। हम अब भी देवता और देवी के रूप में उन्हें कल्पित … के अपनी सौन्दर्य-भावना को तृप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त … नेक अमूर्त पदार्थों में मानव-व्यक्तित्व का समारोप करके हम उन्हें … पने लिए अधिक ग्राह्य और निकटवर्ती बना लेते हैं। निद्रा,

---

Happily for poetry, a knowledge of astronomy …s not depersonified sun, moon, and stars. It … still aesthetically satisfying to regard them as …ds and goddesses. Moreover certain abstrac…ns are made more immediate and comprehen…ble when they are translated into terms of …man personality. Sleep, death, wisdom, love,

मृत्यु, बुद्धि, ज्ञान, बदला आदि अनेक ऐसी आकार-शून्य भावनाएँ हैं, जिन्हें कविता ने मानवता-भाव के समारोप-द्वारा अधिक यथार्थ और स्पष्ट रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इन अमूर्त भावों, चेतनताशून्य पदार्थों और प्रकृति में निस्सन्देह मानव-व्यक्तित्व के शोक, क्रोध, हास्य आदि संकेत मिलते हैं, जिनका अधिक विकास किया जा सकता है।"

श्रीमती महादेवी वर्म्मा ने अपनी कविता में काव्य के इस अंग को चटकीला बनानेवाले इस सुन्दर साधन का खूब उपयोग किया है :—

> रजनी ओढ़े जाती थी, झिलमिल तारों की जाली;
> उसके बिखरे वैभव पर, जब रोती थी उजियाली;
> शशि को छूने मचली-सी, लहरों का कर-कर चुम्बन;
> बेसुध तम की छाया का, तटिनी करती आलिङ्गन।

---

vengeance are some of the abstractions that poetry has made more real and graphic by the method of personification. In these abstractions as well as in nature, and in inanimate objects, there are in fact hints of personality, of anger, of sorrow, and these hints suggest a fuller development.

By them a man is reminded of attributes he finds in men, so he personifies them, pictures them as human. W. E. WILLIAMS

अपनी जब करुण कहानी, कह जाता है मलयानिल ।
आँसू से भर जाता जब—सूखा अवनी का अञ्चल ॥
पल्लव के डाल हिंडोले, सौरभ सोता कलियों में ।
छिप-छिप किरणें आतीं जब, मधु से सींची गलियों में ॥
आँखों में रात बिता जब, विधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने, प्राची में प्रात चितेरा;
कन-कन में जब छाई थी, वह नवयौवन की लाली ।
मैं निर्धन तब आई ले, सपनों में भरकर डाली ।
जिन चरणों की नख-ज्योती, ने हीरक जाल लजाये,
उन पर मैंने धुँधले से, आँसू दो-चार चढ़ाये !
इन ललचाई पलकों पर, पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला, उस चितवन ने पीड़ा का !!
उस सोने के सपने को देखे कितने युग बीते !
आँखों के कोष हुए हैं, मोती बरसाकर रीते;
अपने इस सूनेपन की, मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर, करती रहती दीवाली ।
मेरी आहें सोती हैं, इन ओठों के ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है, इन दीवानी चोटों में !!
चिन्ता क्या है, हे निर्मम, बुझ जाये दीपक मेरा,
हो जायेगा तेरा ही, पीड़ा का राज्य अँधेरा ।

परन्तु इस साधन की उपयोगिता की भी एक सीमा है । लिखित पंक्तियों में इस सीमा का अतिक्रमण कर दिया गया

१. कामना की पलकों में झूल
२. छू स्मृतियों के बाल जगाना
३. घायल मन लेकर सो जाती मेघों में तारों की प्यास।
४. बहती जिस नक्षत्र-लोक में निद्रा की श्वासों से बात।
५. जिस दिन नीरव तारों से, बोलो किरणों की अलकें।
सो जाओ अलसाई हैं, सुकुमार तुम्हारी पलकें।

जिस विद्वान् का मत हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं उसने इस साधन के दुरुपयोग से सावधान रहने की चेतावनी दी है। वह कहता है :—

*"मानव व्यक्तित्व का आरोप तभी प्रभावशाली होता है जब वह एक स्पष्ट चित्र की उद्भावना करता है। जब उससे केवल कृत्रिम अलंकरण का काम लिया जाता है तब उसका सौन्दर्यगत महत्त्व उतना ही क्षुद्र हो जाता है जितना वेस्टमिंस्टर-अबे की अधिकांश मूर्त्तियों का, जो आकारों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं हैं ! विशेष रूप से अठारहवीं शताब्दी में कवित्त्व की अभिव्यक्ति के लिए वह साधारण अभ्यास-सिद्ध

* Personification is effective only when it creates a vivid picture. If it becomes merely a conventional decoration, its aesthetic value is as little as that of most of the statues in Westminster Abbey: a mass of figures with significance

वस्तु हो गयी और ग्रे जैसे योग्य कवियों ने भी अपनी पंक्तियों में 'गुलाबी गोदवाली घड़ियाँ', 'चिन्तन का गम्भीर नेत्र', 'नील-नयन आमोद-प्रमोद', 'रोषमयी चिन्ता' और 'पीतवर्ण विषाद' आदि भद्दे शब्दों को स्थान दिया।"

किन्तु उक्त साधन के दुरुपयोग की शिकायत केवल श्रीमती महादेवीजी से ही नहीं, प्रायः उन समस्त कवियों से की जा सकती है जो छायावादी कवि कहलाते हैं।

हम कह आये हैं कि श्रीमती महादेवी की वेदना में गहराई नहीं, मोहकता है। इस विशेषता का अवलम्बन लेकर उन्होंने नायक और नायिका के बहुत मनोहर चित्र अंकित किये हैं। उनके ये चित्र कहीं-कहीं तो मानव-हृदय को कल्पना के उस नन्दन-कानन में विहार कराने की शक्ति रखते हैं, जहाँ पीड़ा का, व्यथा का, नाम नहीं। नीचे के नायक-चित्रों में पाठक उस अपूर्व सौन्दर्य

During the 18th century, imparticular, personification deteriorated into a custom ary suit for poetic expression and poets as capable as Gray filled their lines with clumsy, lumpish phrases like "rozy-bosomed hours", "contemplation's sober eye", "blue-eyed pleasures", "sullen care" and "pale melancholy."

W. E. Williams.

का दर्शन करेंगे, जो उन्हें आकाश में शुभ्र शारद-मेघों की शैय्या पर शोभित होनेवाले चन्द्रमा के विहसित वदन; वसन्त ऋतु में रात्रि के अंधकार में किसी अदृष्ट रसाल तरु की अदृष्ट डाली पर कूकनेवाली कोयल के मधुर कूजन; तथा वर्षाऋतु में अकस्मात् आकाश को मंद, अनुरंजित हास से युक्त बनानेवाले इन्द्रधनुष के आकर्षण से मिल सकता है :—

> जब इन फूलों पर मधु की, पहली बूँदें बिखरी थीं,
> "आँखें पंकज की देखीं, रवि ने मनुहार भरी-सीं।
> दीपकमय कर डाला जब, जलकर पतङ्ग ने जीवन,
> सीखा बालक मेघों ने, नभ के आँगन में रोदन;
> उजियारी अवगुण्ठन में, विधु ने रजनी को देखा,
> तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ, उनके चरणों की रेखा!
> मैं फूलों में रोती वे, बालारुण में मुस्काते,
> मैं पथ में बिछ जाती हूँ, वे सौरभ में उड़ जाते।
> वे कहते हैं—उनको मैं, अपनी पुतली में देखूँ,
> यह कौन बता जायेगा, किसमें पुतली को देखूँ!
> मेरी पलकों पर रातें, बरसाकर मोती सारे,
> कहतीं 'क्या देख रहे हैं, अविराम तुम्हारे तारे'!
> तम ने इन पर अंजन से, बुन-बुनकर चादर तानी,
> इन पर प्रभात ने फेरा, आकर सोने का पानी!
> इन पर सौरभ की साँसें, लुट-लुट जाती दीवानी,
> यह पानी में बैठी हैं, मन स्वप्न-लोक की रानी।

कितनी बीतीं पतझारें, कितने मधु के दिन आये,
मेरी मधुमय पीड़ा को, कोई पर ढूँढ़ न पाये!
झिम-झिम आँखें कहती हैं, यह कैसी है अनहोनी?
हम और नहीं खेलेंगी, उनसे यह आँखमिचौनी।
अपने जर्जर अञ्चल में, भरकर सपनों की माया,
इन थके हुए प्राणों पर, छाई विस्मृति की छाया!

❀ ❀ ❀ ❀

मेरे जीवन की जाग्रति! देखो फिर भूल न जाना,
जो वे सपना बन आवें, तुम चिरनिद्रा बन जाना॥

श्रीमती महादेवी की नायिका ने अपने विचित्र नायक की
न्ठुरता अथवा क्रीड़ाशीलता का बहुत मधुर अंकन किया है।
चे की पंक्तियाँ जिस चित्र की कोमल रेखाओं के रूप में
स्तुत की गई हैं, वह हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सम्पत्ति है:—

अलि कैसे उनको पाऊँ?
वे आँसू बनकर मेरे,
इस कारण ढुल-ढुल जाते,
मैं बाँध-बाँध पछताऊँ!

मेघों में विद्युत-सी छवि,
उनकी बनकर मिट जाती,
आँखों की चित्रपटी में,
जिसमें मैं आँक न पाऊँ!

ये श्वास बन खो जाते,
शशि-किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण-कण में,
ढूँढ़ँ, पहचान न पाऊँ !

सोते सागर की धड़कन—
बन, लहरों की थपकी-सी;
अपनी यह करुण कहानी,
जिसमें उनको न सुनाऊँ !

ये तारक-बालाओं की,
अपलक चितवन बन जाते,
जिसमें उनकी छाया भी,
मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ !

वे चुपके-से मानस में,
आ छिपते उच्छ्वासें बन,
जिसमें उनको साँसों में,
देखूँ, पर रोक न पाऊँ !

वे स्मृति बनकर मानस में,
खटका करते हैं निशिदिन,
उनकी इस निष्ठुरता को,
जिसमें मैं भूल न पाऊँ !

श्रीमती महादेवीजी की उक्त पंक्तियों में जड़ प्राकृतिक पदार्थों के जीवन में प्रवेश कर जाने की, उनके साथ एकाकार स्थापित

करने की उत्कंठा-पूर्ण प्रवृत्ति भी देख पड़ती है। उनके काव्य की यह बहुत बड़ी विशेषता है जो उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी आधुनिक महिला-कवि के काव्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी नायिका उस अज्ञात नायक की खोज में रत देख पड़ती है जो उसकी अजान अवस्था ही में उसे आँसुओं का हार पहना गया, जो बादलों की आड़ में बिजली का दीपक लेकर आया था और स्वर्ण-मेघ की कान्ति से युक्त जिसने नायिका के निस्सार-जीवन-रूपी सीप में अपनी करुणा का एक कण गिराकर नायिका के लिए वेदना के मौक्तिक की सृष्टि कर दी थी, आदि-आदि।

नीचे की पंक्तियों में पाठक इस सुन्दर चित्र का अवलोकन करें:—

दूर हँसते तारकों से रूठकर,
कंटकों की सेज पर सपने बिछा;
मंद मारुत के करुण संगीत से,
सो गई मैं एक अलस गुलाब-सी;

आँसुओं का ताज तब पहना गया;
जो मुझे चुपचाप, वह अलि कौन था?

शून्य निशि में भ्रांत झंझावात से,
चौंकता जब विश्व-निद्रित बाल-सा;
घन पपीहे के हृदय की 'पी कहाँ',
मैं भटकती थी गगन पथहीन में;

तब खड़ा था जो घनों की ओट में,
दीप विद्युत का लिये, वह कौन था!

❀ ❀ ❀

काल के जब कूलहीन प्रवाह में,
बह चला निस्सार जीवन सीप-सा;
अश्रु इसमें एक जिसका टूटकर,
वेदना का मंजु मोती बन गया।
आज भी है तृषित जग जिसके लिए,
वह सुनहला मेघ जाने कौन था!

❀ ❀ ❀

कुमुद-दल से वेदना के दाग़ को,
पोंछती जब आँसुओं से रश्मियाँ.
चौंक उठती अनिल के निश्वास छू,
तारिकाएँ चकित-सी, अनजान-सी;
तब बुला जाता मुझे उस पार जो,
दूर के संगीत-सा वह कौन है!

❀ ❀ ❀

शून्य नभ पर उमड़ जब दुख-भार-सी,
नैश तम में; सघन आ जाती घटा;
बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी,
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी;

तव चमक जो लोचनों को मूँदता,
तड़ित की मुस्कान में वह कौन है ?

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में,
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता;
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से,
ज्योत्स्ना के रजत पारावार में;
सुरभि बन जो थपकियाँ देता मुझे
नींद के उच्छ्वास-सा वह कौन है ?

जब कपोल गुलाब पर शिशु प्रात के,
सूखते नक्षत्र जल के बिन्दु से;
रश्मियों की कनक-धारा में नहा,
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे;
स्वप्न-शाला में यवनिका डाल जो
तब दृगों को खोलता, वह कौन है !

श्रीमती महादेवीजी की नायिका का यह नायक वृन्दावन-विहारी श्रीकृष्ण की अपेक्षा कम नटखट नहीं है !—वह श्री कृष्ण जो पहले तो बाँसुरी बजाकर गोपियों को घर छोड़, कुञ्ज की ओर दौड़ी आने के लिए विवश कर देते थे और बाद को उन्हें गृह-धर्म

और लोक-धर्म्म आदि की शिक्षा देकर लौट जाने का औचित्य समझाते थे ! उक्त नायिका, गोपिका ही की तरह, अपने प्रियतम से कहती है :—

क्यों इन तारों को उलझाते !
　　अनजाने ही प्राणों में क्यों
　　　　आ-आकर फिर जाते !
पल में रागों को झंकृतकर,
　　फिर विराग का अस्फुट स्वर भर;
　　　　मेरी लघु जीवन-वीणा पर
　　　　　　क्या यह अस्फुट गाते !
लय में मेरा चिर करुणा-धन,
　　कम्पन में स्वप्नों का स्पन्दन,
　　　　गीतों में भर चिर सुख, चिर दुख,
　　　　　　कण-कण में बिखराते !
मेरे शैशव के मधु में घुल,
　　मेरे यौवन के मद में ढुल,
　　　　मेरे आँसू स्मित में हिलमिल
　　　　　　मेरे क्यों न कहाते !

श्रीमती महादेवी के व्यक्तित्व में चिन्ताशीलता की कुछ ... मिलती है; उनकी नायिका को भी इस चिन्ताशीलता का ... मिला है। अपने अस्तित्व की मीमांसा करती हुई वह कहती है :—

कहीं से, आई हूँ कुछ भूल !
कसक कसक उठती सुधि जिसकी,
रुकती-सी गति क्यों जीवन की ?
क्यों अभाव छाये लेता
विस्मृति-सरिता के कूल ?
किसी अश्रुमय घन का हूँ कन,
टूटी स्वर-लहरी की कम्पन,
या ठुकराया गिरा धूल में
हूँ मैं नभ का फूल !
दुख का युग हूँ, या सुख का पल
करुणा का घन, या मरु निर्जल
जीवन क्या है मिला कहाँ ?
सुधि भूली आज समूल !
प्याले में मधु या आसव,
बेहोशी है या जागृति नव,
बिन जाने पीना पड़ता है
ऐसा विधि प्रतिकूल !

अपने अनन्त प्रियतम की खोज में भी उनकी नायिका ने चिन्ताशीलता का परिचय दिया है। वह कहती है :—

घोर तम छाया चारों ओर,
घटायें घिर आईं घन घोर;

वेग-मारुत का है प्रतिकूल,
हिले जाते हैं पर्वत-मूल;
गरजता सागर बारम्बार,
कौन पहुँचा देगा उस पार!
तरङ्गें उठीं पर्वताकार,
भयंकर करतीं हाहाकार;
अरे उनके फेनिल उच्छ्वास,
तरी का करते हैं उपहास;
हाथ से गई छूट पतवार,
कौन पहुँचा देगा उस पार!
ग्रास करने नौका, स्वच्छन्द,
घूमते फिरते जलचरवृन्द!
देखकर काला सिन्धु अनन्त,
हो गया हा साहस का अन्त!
तरङ्गें हैं उत्ताल अपार,
कौन पहुँचा देगा उस पार!
बुझ गया वह नक्षत्र प्रकाश,
चमकती जिसमें मेरी आश;
रैन बोली सज कृष्ण दुकूल,
विसर्जन करो मनोरथ फूल;
न लाये कोई कर्णाधार,
कौन पहुँचा देगा उस पार!

सुना था मैंने इसके पार
बसा है सोने का संसार,
जहाँ के हँसते विहग ललाम
मृत्यु-छाया का सुनकर नाम !
धरा का है अनन्त शृंगार,
कौन पहुँचा देगा उस पार ?
जहाँ के निर्झर नीरव गान,
सुना करते अमरत्व प्रदान ;
सुनाता नभ अनन्त झङ्कार,
बजा देता है सारे तार ;
भरा जिसमें असीम-सा प्यार
कौन पहुँचा देगा उस पार ?
पुष्प में है अनन्त मुस्कान,
त्याग का है मारुत में गान ।
सभी में है स्वर्गीय विकाश,
वही कोमल कमनीय प्रकाश ;
दूर कितना है वह संसार !
कौन पहुँचा देगा उस पार ?

सुनायी किसने पल में आन,
कान में मधुमय मोहक तान ?

'तरी को ले जाओ मझधार,
डूबकर हो जाओगे पार;
विसर्जन ही है कर्णाधार,
वही पहुँचा देगा उस पार!'

इस नायिका ने अपने 'असीम सूनेपन से भरे हुए भिक्षुक जीवन के अभिमान में डूबकर जो कुछ कहा है, वह मैं द्रष्टव्य है:—

छाया की आँख-मिचौनी, मेघों का मतवालापन।
रजनी के श्याम कपोलों पर ढरकीले श्रम के कन॥
फूलों की मीठी चितवन, नभ की ये दीपावलियाँ।
पीले मुख पर सन्ध्या के, वे किरणों की फुलझड़ियाँ॥
विधु की चाँदी की थाली, मादक मकरन्द भरी-सी।
जिसमें उजियारी रातें, लुटतीं घुलतीं मिसरी-सी॥
भिक्षुक से फिर जाओगे, जब लेकर यह अपना धन।
करुणामय तब समझोगे, इन प्राणों का मँहगापन॥
क्यों आज दिये देते हो, अपना मरकत सिंहासन?
यह है मेरे मरु-मानस का, चमकीला सिकतापन॥
आलोक यहाँ लुटता है, बुझ जाते हैं तारागण।
अविराम जला करता है, पर मेरा दीपक सा मन॥
जिसकी विशाल छाया में, जग बालक-सा सोता है।
मेरी आँखों में वह दुख, आँसू बनकर सोता है॥

जग हँसकर कह देता है, मेरी आँखें हैं निर्धन।
इनके बरसाये मोती, क्या वह अब तक पाया गिन ?
मेरी लघुता पर आती, जिस दिव्य लोक को व्रीड़ा।
उसके प्राणों से पूछो—वे पाल सकेंगे पीड़ा ?
उनसे कैसे छोटा है, मेरा यह भिक्षुक जीवन ?
उनमें अनन्त करुणा है, इसमें असीम सूनापन ॥

इस अभिमानमयी नायिका में बड़ा वैचित्र्य है। वह अपनी
ापत्ति के मिटने की कामना ही नहीं करती, उलटे उसे गले
गाने को तैयार है। सारी कठिनाइयों के हल हो जाने पर भी
ह अपने 'प्राणों की क्रीड़ा' में तल्लीन हो रहेगी और जहाँ अब
क पीड़ा में प्रियतम का दर्शन करती थी, वहाँ अब प्रियतम
ो पा लेने के बाद उनमें पीड़ा की तलाश करेगी। अपने प्रियतम
। वह कहती है :—

इस एक बूँद आँसू में, चाहे साम्राज्य बहा दो।
वरदानों की वर्षा से, यह सूनापन बिखरा दो ॥
इच्छाओं की कम्पन से, सोता एकान्त जगा दो।
आशा की मुस्काहट पर, मेरा नैराश्य लुटा दो ॥
चाहे जर्जर तारों में, अपना मानस उलझा दो।
इन पलकों के प्यालों में, सुलका आसव ढुलका दो ॥
मेरे बिखरे प्राणों में, सारी करुणा ढुलका दो।
मेरी छोटी सीमा में, अपना अस्तित्व मिटा दो।

पर शेष नहीं होगी यह, मेरे प्राणों की क्रीड़ा।
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूँढ़ूँगी पीड़ा!

श्रीमती महादेवी की नायिका रस-ग्रहण करने के लि
लोलुपता और आसक्ति में डूबी हुई भ्रमरी नहीं है। उसमें मधुप
के समय भी इस स्मृति का अस्तित्व है कि मिलन के बाद विरह
आगमन होकर ही रहेगा। वह कहती है:—

स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव-वीणा का टूटा तार,
मृत्यु का क्षणभंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का श्रृंगार;
नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन!
क्षीर-निधि की थी सुप्त तरङ्ग, सरलता का न्यारा निर्झर,
हमारा वह सोने का स्वप्न, प्रेम की चमकीली आकर;
शुभ्र जो था निर्मेघ गगन, सुभग मेरा संगी जीवन!
अलक्षित आ किसने चुपचाप, सुना अपनी सम्मोहन तान,
दिखाकर माया का साम्राज्य, बना डाला इसको अज्ञान?
मोह मदिरा का आस्वादन, किया क्यों है भोले जीवन!
तुम्हें ठुकरा जाता नैराश्य, हँसा जाती है तुमको आश,
नचाता मायावी संसार, लुभा जाता सपनों का हास,
मानते विष को संजीवन, मुग्ध मेरे भूले जीवन!
न रहता भौंरों का आह्वान, नहीं रहता फूलों का राज्य,
कोकिला होती अन्तर्धान, चला जाता प्यारा ऋतुराज;
असंभव है चिर सम्मेलन, न भूलो क्षणभंगुर जीवन!

विकसते मुरझाने को फूल, उदय होता छिपने को चन्द,
शून्य होने को भरते मेघ, दीप जलता होने को मन्द ;
यहाँ किसका अनन्त यौवन ? अरे अस्थिर छोटे जीवन !
छलकती जाती है दिन-रैन, लबालब तेरी प्यारी मीत ,
ज्योति होती जाती है क्षीण, मौन होता जाता संगीत ;
करो नयनों का उन्मीलन, क्षणिक हे मतवाले जीवन ।
शून्य से बन जाओ गम्भीर, त्याग की हो जाओ झङ्कार,
इसी छोटे प्याले में आज, डुबा डालो सारा संसार !
लजा जायँ यह मुग्ध सुमन, बनो ऐसे छोटे जीवन !
सखे यह है माया का देश, क्षणिक है मेरा तेरा सङ्ग ,
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु, सजीला-सा फूलों का रङ्ग;
तुम्हें करना विच्छेद सहन, न भूलो हे प्यारे जीवन !

श्रीमती महादेवीजी की नायक और नायिका-सृष्टि में जिन तत्त्वों का समावेश किया गया है वे दो-एक अन्य बातों का सहयोग पाकर किसी भी रचना को अमरत्त्व प्रदान करने की शक्ति रखते हैं। पंडित सुमित्रानन्दन पंत की कविता में जो अभाव है, जिस त्रुटि के कारण उनके शब्द-चित्रों में मार्मिकता का सञ्चार नहीं हो पाता, वही किञ्चित् अधिक मात्रा में श्रीमतीजी की रचनाओं में प्रवेश पा गयी है। और यह त्रुटि है कृत्रिमतापूर्ण स्वप्नलोक में, मायामय विश्व में, विचरण करने की प्रवृत्ति। श्रीमती सुभद्राकुमारी की कविता में न ऊँची कल्पना है, और न उत्प्रेक्षाओं तथा उपमाओं की माला पहनकर ही वह बाहर निकलती है, लेकिन निरलंकृता

होने पर भी, उस वनवासिनी सरलतामूर्त्ति शकुन्तला में, प्रभाव डालने की वह शक्ति है, जो पंतजी की, कल्पना के आभूषणों से लदी हुई, राजभवन-विहारिणी मेनका में नहीं। इसका कारण केवल यही है कि श्रीमती सुभद्राकुमारी ने मानव-हृदय को द्रवित करनेवाले उपकरण के संग्रह की ओर जितना ध्यान दिया है उतना उसे इन्द्र-जाल का तमाशा दिखाने में सहायक सामग्रियों के संचय की ओर नहीं; यद्यपि यह कहा जा सकता है कि इस दिशा में किंचित् अधिक सयत्न होकर वे अपनी बहुत-सी रचनाओं की सुघरता को बढ़ा सकती थीं।

जो हो ; हमारा विश्वास है कि श्रीमती महादेवी के सामने एक उज्ज्वल भविष्य है; उनके काव्य के तारुण्य और प्रौढ़त्व की छटा निखर कर निकट भविष्य में हमें अवश्य दृष्टिगोचर होगी। संभव है उस छटा की प्रखरता में वीणापाणि सरस्वती हमारे नेत्रों को चकाचौंध कर देने की शक्ति भर दें; संभव है, जगदम्बिकारूपिणी होकर वह हमारे हृदय को शीतल भी कर दे। इसी दृढ़ विश्वास से प्रेरित और श्रीमतीजी के काव्य के विकसित सौन्दर्य-दर्शन के समय को अधिक से अधिक समीप लाने की कामना के वशीभूत होकर ही हमने उक्त पंक्तियाँ उनकी सेवा में निवेदन करने की धृष्टता की है।





श्रीमती रामेश्वरीदेवी 'चकोरी'

चकोरीजी ने एक कवित्त में स्वयं अपना परिचय
प्रकार दिया है:—

नाम से हूँ विदित 'चकोरी' कवि-मण्डली में,
किन्तु न कलङ्की निशानाथ से छली हूँ मैं।
भावुक जनों के मञ्जु मानस-सरोवर में,
पंकज-पराग हेतु भ्रमित अली हूँ मैं।
विमल विभूति हूँ रसों में चारु कल्पना की,
काव्य-कुसुमों में एक नवल कली हूँ मैं।
भक्ति देवि शारदा की, शक्ति दीन दलितों की,
'अरुण' सनेही के सनेह में पली हूँ मैं॥

इस परिचयात्मक कवित्त में भी चमत्कार का अभाव नहीं
चकोरी होकर भी वे वह चकोरी नहीं है जिसे कपटी और कल
चन्द्रमा अपने छल की पात्री बनाता है। इससे भी अधिक वि
बात तो यह है कि साधारणतया चकोरी को अरुण से स्नेह
होता, क्योंकि अरुण उसके प्रेम-भाजन को निस्तेज कर देता है; कि
चकोरीजी में यह विशेषता है कि वे 'अरुण सनेही के सने
पली' हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि वे 'शारदा की भक्ति' और '
दलितों की शक्ति' की मूर्त्ति बन जायँ तथा शीघ्र ही 'नवलक
से 'काव्य-कुसुम' का रूप धारण कर लें। साथ ही एक निवेदन
भी है कि यदि वे वास्तव में अभी तक 'भ्रमित अली' हैं तो
करके 'भ्रमित अलिनी' होने का उद्योग करें, क्योंकि
'अलिनी' होने ही में सरलता सुकुमारता, और माधुर्य संभव है

'चकोरी' जी ने अपने सम्बन्ध में कुछ और बड़ी सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं:—

खेला करती थी बगिया में, फूलों और तितलियों से।
बातें करती रहती थी अक्सर उन अस्फुट कलियों से।
कितना परिचय था घनिष्ट नरही की प्यारी गलियों से॥

× × ×

किन्तु लगा चस्का पढ़ने का, कुछ दिन बाद मुझे प्यारा।
मिली साथिनें नयी-नयी वह नूतन जीवन था प्यारा।
मेरे लिए विनोद-भवन, महिला-विद्यालय था सारा॥

× × ×

महिला-विद्यालय को छोड़ा, नरही की गलियाँ छोड़ीं।
बगिया-सी विभूत छोड़ी, हँसती प्यारी कलियाँ छोड़ीं।
साथ खेलनेवाली वे बचपन की प्रिय सखियाँ छोड़ीं॥

× × ×

वे अतीत की स्मृतियाँ आकर, हाहाकार मचाती हैं।
अन्तरतम में एक मधुर-सी, पीड़ा ये उपजाती हैं॥

'चकोरी'जी ने श्रीयुत उमाचरण शुक्ल के यहाँ बेंथर (उन्नाव) में जन्म ग्रहण किया। दो वर्ष की अवस्था में ही आपके पिता का स्वर्गवास हो गया। इस कारण लखनऊ के नरही नामक मुहल्ले में, जहाँ आपका ननिहाल है, आपका लालन-पालन हुआ। महिला-विद्यालय में आपकी शिक्षा हुई, यह उनकी उक्त कविता-पंक्तियों से भी स्पष्ट है। आपका विवाह सन् १९२९ में चौदह वर्ष की अवस्था में श्रीयुत लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' के साथ हुआ।

नारी के शारीरिक और मानसिक यौवन का विकास सदा कवियों की कला का एक प्रिय विषय रहा है। धीरे-धीरे शैशव लोप और यौवन के आगमन में है भी कुछ ऐसा ही मधुर सौन्दर्य कि उस ओर सौन्दर्यान्वेषी की दृष्टि गये बिना रह नहीं सकती। विहारीलाल ने भी कहा है:—

> छुटी न शिशुता की झलक झलक्यो जोबन अङ्ग।
>
> दीपति देह दुहून मिलि दिपति ताफ़ता रंग॥

इस दोहे में कवि ने उस सौन्दर्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जो शैशव और यौवन के सम्मिलन से उत्पन्न होता है। विद्यापति आदि ललित कवियों ने भी इस सौन्दर्य का मुक्तः कंठ से गान किया है। किन्तु एक नारी ही इस सम्बन्ध में क्या कहेगी, यह जानना काव्य-रसिकों के लिए कम कौतूहल का विषय नहीं है। 'चकोरी'जी की निम्नलिखित पंक्तियों में उनके यौवन-विषयक उद्गारों को देखिए:—

> तुम कहो, कहाँ से आये हो, मतवाली श्यामला बेला!
>
> मरकत के प्याले में भर दो, यह किसकी मादकता बेला!
>
> शैशव के सुन्दर आँगन में, तुम चुपके से आगये कहाँ!
>
> भोले-भाले चंचल मन में, लज्जा-रंग भरता गये कहाँ!
>
> ॐ ॐ ॐ
>
> ले गये चुरा किस हेतु, कहो वह जीवन शान्त सरलता का!
>
> निश्चल, अलौकिक, निर्विकार, शुचि, सुन्दर, और मनोहर का!

उस छोटे से नन्दनवन में, जिसमें न पुष्प थे, कलियाँ थीं ;
थे भाव नहीं, आसक्ति न थी, केवल प्रमोद रँगरलियाँ थीं।

संकुचित कली की पंखुरियाँ छू चुपके-से विकसा दीं क्यों ?
सौरभ की सोई-सी अलकें आसक्त कहो उसका दीं क्यों ?
उस शान्त-स्निग्ध नीरवता में प्रलयंकर झंझावत मचा ;
यह कैसा कायाकल्प किया—यह कैसा माया-जाल रचा।

लज्जा का अंजन लगा दिया, उन चपल हठीली आँखों में।
लेगये लूट स्वातंत्र्य-सौख्य हे हठी लुटेरे लाखों में।।
नन्हें मन में किस भाँति अचानक आज प्रणय को पहचाना।
अभ्यन्तर में क्यों सुनती हूँ पीड़ा का व्यथा-सिक्त गाना॥

उर-अन्तर किसके मिलने को अज्ञात भावनाएँ भरकर।
उन्मत्त सिन्धु-सा उबल पड़ा अपना लेने किसको बढ़कर॥
उस सरल हृदय में यह कैसा अभिलाषाओं का द्वन्द्व हुआ।
उत्थान हुआ या पतन हुआ, दुख हुआ, या कि आनन्द हुआ॥

अँग-अंग मूक सम्भाषण की यह कैसी जटिल पहेली है।
बतलाओ तुम्हीं, तुम्हारी ही उलझाई अखिल पहेली है॥

यौवन का आगमन होने पर स्त्री और पुरुष का ... आकर्षण जिज्ञासु के लिए एक विचित्र पहेली के तुल्य हो ... है। 'चकोरीजी' की निम्नलिखित पंक्तियों में यह जिज्ञासा ... योग्य है:—

क्या है यह आकर्षण? कैसा है इसका इतिहास?
आँखों के मिलते ही बढ़ती क्यों आँखों की प्यास!
अधर खोजते रहते अस्फुट अधरों की मुस्कान;
यौवन हाथ पसार माँगता क्यों यौवन का दान!

हृदय स्वयं ही कर लेता है न्याय हृदय का आप;
बन जाता है अपनापन क्यों अपना ही अभिशाप!
एक वासना है, उसको सब क्यों कहते हैं प्यार!
अचिर उमङ्ग-जनित यह कैसा है कलुषित व्यापार!

अब न देखना पगलो इस नश्वर यौवन का रङ्ग॥
एक सुनहरी छाया, जिस पर हँसता रहे अनङ्ग।
इसी क्षणिक अस्पष्ट स्वप्न की परिभाषा है पाप।
जिसमें सीमित है ममता के जीवन का अनुताप।

'चकोरी'जी ने निम्नलिखित पंक्तियों में नारी के बहुत सुन्दर चित्र अंकित किये हैं:—

[१]

भव-सागर के तट पर अजान, सुनती हूँ वह कलरव महान।
एकाकी हूँ कोई न संग, उठती हैं रह-रह भय-तरङ्ग॥
केवल यौवन का भार लिये, बैठी हूँ सूना प्यार लिये।
करते हैं बादल अश्रु-दान, घन का सुनती गर्जन महान॥

* * *

आती है तड़ित चिराग़ लिये, बिछुड़ी स्मृति का अनुराग लिये;
होता है भीषण अट्टहास, बुझ जाता है वह भी प्रकाश॥
मारुत का वेग प्रचंड हुआ, वह उदधि हृदय भी खंड हुआ।
ओढ़े काले रँग का दुकूल, है अन्त-हीन-सा सिंधु-कूल।

* * *

उत्ताल तरंगें वह आईं छूने को मेरी परिछाईं।
उन संभ्रम शिथिल झकोरों की, ममता-सी मृदुल हिलोरों की।
लेकर सब शून्य उमंगों को, पकड़ा उन तरल तरंगों को।
वह चली त्याग पीड़ा-विषाद, सुध-हीन हुई,मिट गई साध॥

* * *

सहसा कानों में उषा-गान, झनझना उठा छू शिथिल प्राण।
सागर की धड़कन शान्त हुई, वह स्वप्न-नाटिका भ्रांत हुई॥
खिलखिला पड़ा जग एक बार, आ पहुँचा मेरा कर्णधार।
यौवन-कलिका थी जाग उठी, लहरों की शरणा त्याग उठी॥

अर्पण कर प्रेम पराग मुझे नाविक ने दिया सुहाग मुझे।
नाविक की वह पतवार-हीन, नौका थी जर्जर, अति मलीन॥
द्रुत गति से नौका बहती थी, कुछ मौन स्वरों में कहती थी।
इस बार तरंगें मचल पड़ीं, तरणी के पथ में अचल अड़ीं॥

मैं काँप उठी, उद्भ्रांत हुई, जर्जर नौका भी शांत हुई।
रक्षक भी मेरा था अधीर, दृग-कोरों से बह चला नीर॥
सहसा तरणी जल-मग्न हुई, छाया-सी क्षण में भग्न हुई।
प्राची में अरुण मुस्कुराया, लहरों ने प्रलय-गान गाया।

मेरा नाविक बह गया कहीं, जीवन सूना रह गया वहीं॥
फिर बिखरा दी संचित उमंग, ले गई उसे भी जल-तरंग।
मैंने हो पथ-दर्शक-विहीन, कर लिया सिन्धु में आत्मलीन॥
कितना अथाह ! कितना अपार ! ले चली मुझे भी एक धार।

छूटे भव-बंधन, चाह नहीं, हो जाय प्रलय परवाह नहीं॥
जाती हूँ मैं उस पार वहाँ, है मेरा प्राणाधार जहाँ—
पीने को सुख से लूट-लूट, वह प्रणय-सुधा की एक घूँट।

[२]

होती यदि मीठी रागिनी मैं किसी कोयल की
होती यदि शान्त सरिता का एक कूल मैं॥

भ्रमरों को नित्य ही कराती मधुपान, यदि—
होती मञ्जु वाटिका का प्राण एक फूल मैं।
भावमयी कल्पना जो कवि की 'चकोरी' होती,
होती कहीं विरही के अन्तर की शूल मैं।
चूमती सप्रेम मैं तुम्हारे चरणों को नित्य,
होती प्राणनाथ! यदि मारग की धूल मैं।

[३]

न मैं हूँ शैशव का मृदुहास, न मैं हूँ यौवन का उन्माद।
न मैं हूँ आदि, न मैं हूँ अन्त, न हूँ वृद्धापन का अवसाद।
प्रकृति की हरियाली से तोल, हमारे जीवन का क्या मोल!

न हूँ मैं किसी हार की जीत, न मैं हूँ किसी हृदय का प्यार।
न मैं हूँ शान्ति, न मैं हूँ भ्रांति, न मैं हूँ सुखद प्रणय-उपहार।
समीरण के कंचन से तोल, हमारे जीवन का क्या मोल!

न मैं हूँ घृणा, न मैं हूँ प्रेम, न मैं हूँ ध्यान, न मैं सम्मान।
न हूँ आशा की उज्ज्वल ज्योति, न मैं हूँ गान, न मैं अभिमान।
निशा के अन्धकार से तोल, हमारे जीवन का क्या मोल!

जिसे सुनती हूँ केवल स्वप्न, वही मेरा जीवन-संगीत।
जहाँ सीमित जग का अनुताप, वहीं है मेरा विमुख अतीत।
विश्व की नश्वरता से तोल, हमारे जीवन का क्या मोल!

अरे हूँ वन्य-कली सी देव, झाड़ियों में खिलती अनजान।
न सौरभ है, न मधुर मकरंद, न है भ्रमरों का मोहित गान।
कौन सकता है मुझको तोल, हमारे जीवन का क्या मोल!

किन्तु आयी हूँ बिकने आज, तुम्हारे ही हाथों हे नाथ!
अब न ठुकराना, करलो मोल, नाथ! मेरे प्राणों के नाथ।
अरे अपनी पद-रज से तोल, वही मेरे जीवन का मोल!

[४]

किसने आज प्रणय-बंधन को टूक टूक कर डाला!
अरे-अरे! उसका दी किसने जीवन को यह ज्वाला!
आँसू नहीं, हृदय के टुकड़े हैं, या मूक निराशा।
सुख-स्वप्नों ने हाय! पिलाया मुझको विष का प्याला॥
वही धर्म था, वही प्राण था, मेरा वही खज़ाना।
उसके बिना व्यर्थ कहलाता है सिंदूर सजाना॥

देख, देख, ओ निठुर! देख शून्य हृदय दर्पण में।
डाल दिया तूने परदा जीवन के प्रथम चरण में॥
अरे, न देखा एक बार वह प्रेम अलौकिक मेरा।
दलित कर दिया, कुचल दिया उन इच्छाओं को पग में॥
भोलेपन में उलझ, न समझा वह उपहास अनोखा।
कैसी थी वह जटिल पहेली, कैसा निर्मम धोखा॥

निद्रा थी, या तंद्रा थी अथवा अचेतना गहरी।
अरे, अचानक उठी भ्रान्ति की कैसी भीषण लहरी!
भूल कि जिसमें समझ न पाई सर्वनाश की घड़ियाँ।
किस अनंत में लीन हुई दुनियाँ वह सुखद, सुनहरी॥
किसने शांति छीन अंतर में हाहाकार मचाया।
किसने मेरे मधुर हास्य पर डाली काली छाया॥

मुझ निर्धन का चुरा लिया धन किस छलिया ने, बोलो।
हँसी हँसी में या कि सत्यही, यह रहस्य अब खोलो॥
ला भाई! ला, वह विभूति मेरी मुझको लौटा दे।
अपनी हँसी और दुख मेरा सोचो, समझो, तोलो!
अरे द्रव्य-लोलुप समाज! अविवेकी! अत्याचारी।
कठिन रूढ़ियों में जकड़ी क्यों तेरी ममता सारी!

सुन पड़ता अभ्यन्तर में जब व्यथा-पूर्ण संगीत।
नेत्रों के सम्मुख नचता जब वैभव-पूर्ण अतीत॥
ढक देती जब सुख-स्वप्नों को, धूमिल मीठी आह।
कर देता है सर्वनाश का, अन्धकार भयभीत॥

क्षण भर के ही लिए सही, पर कुछ तो रख लो मान।
शूरों की उजड़ी समाधि पर दो फूलों का दान॥

मधुर 'प्रेम' का सुना न जिसने, लेकर जग में जन्म।
क्यों न तुम्हीं से माँग प्रणय का, पा जाये कुछ ज्ञान।

कभी-कभी सोचा करती हूँ "यह संसार असार"।
कौन यहाँ अपना, जीवन भी दुःखद कारागार।
मर्मभरी आहों में कहती, सोई स्मृति सस्नेह।
"पगली खोज शांति तू अपनी, अपना वैभव प्यार"।

चकोरीजी की कविता में नायक के भी सुन्दर चित्र मिलते हैं:—

उदित गगन में होता राकेश, उसी में प्रतिबिम्बित, अतुल,
तुम्हारा शान्त अलौकिक रूप, दिखाई देता है अभिराम।
देखती हूँ मैं उत्सुक नाथ! उठा जीवन की प्याली रिक्त।

कल्पना धुँधले पथ पर हाय! खोजकर थकी न पाया पार।
हुआ अभिलाषाओं का अन्त, और पीड़ा का कटु सञ्चार।
किया नेत्रों ने कुछ सन्ताप, गिरे आकुल मोती दो-चार॥

उन्हीं मुक्ताओं से चुपचाप, होगये सज्जित कलित कपोल।
लिया अञ्चल में उन्हें समेट, बने वे जीवन-निधि अनमोल॥
उन्हें ही मेरे पथ पर नाथ, दिये हैं आज अचानक खोल।

किन्तु पछताती भी हूँ हाय, बना लेती यदि मञ्जुल हार।

तुम्हारे चरणों में सस्नेह, चढ़ा देती अपना उपहार।
कहीं स्वीकृत होती यह भेंट, क्यों न मिल जाता बिछुड़ा प्यार!

प्यार! मेरा वह बिछुड़ा प्यार, किया जिसने उर-अन्तर मग्न।
उसी पीड़ा-प्रसाद में लिप्त, रहा करती हूँ बेसुध मग्न।
और ज्वाला-सी एक अनन्त, भस्म करने में है संलग्न॥

हमारे जीवन-सुख का आज, हुआ आलोकित प्रथम प्रकाश।
किन्तु हा! मिटा न अन्तर्दाह, न होना निर्मल भाग्याकाश।
गिरा वह शून्य, शुष्क निर्जीव—होगया उसका शीघ्र विनाश॥

किन्तु वे मोती अब भी शेष, बने हैं जीवन के आलोक।
वहाँ सञ्चित, अञ्चल में नाथ, यत्न-पूर्वक रखते हैं रोक।
पुलक उठता है मानस मञ्जु! एक क्षण को बस उन्हें विलोक॥

दीपक के लावण्य पर अपने आपको निछावर कर देनेवाले तंग को सम्बोधित करके 'चकोरी' जी ने कुछ बहुत ही भावपूर्ण और शिक्षाप्रद पंक्तियाँ लिखी हैं :—

इसमें भरी मोहनी शक्ति है क्या, जिसको लख हो सुख पाते कहो?
उसके उस ज्वालामुखी तन को किस लालच से लिपटाते कहो?
किस भाँति की जादूगरी में फँसे तुम कौनसा हो सुख पाते कहो?
पड़ के किस चाह की आग में यों अपने तुम प्राण गँवाते कहो?

उस निष्ठुर दीपक देवता से वरदान की आशा लगाना वृथा।
करते हो उपासना, खूब करो, पर चौगुना चाव चढ़ाना वृथा।
उससे न मिलेगा तुम्हें कुछ भी भ्रम में मन को उलझाना वृथा।
सुख साथ है जीवन के जग में जल के कहीं प्राण गँवाना वृथा।

तुमको कर भस्म समूल पतंग, वो दीपक तो जलता ही रहा।
परवाह न प्रीति की की उसने वह नित्य तुम्हें खलता ही रहा।
अपनी विष से भरी सुन्दरता को दिखा तुमको छलता ही रहा।
तुमने किया प्रेम औ प्राण दिये उसका क्रम तो चलता ही रहा।

किन्तु 'चकोरी' जी की कवि-प्रतिभा जहाँ शिक्षक की ओर से ये पंक्तियाँ लिखाती है वहाँ पतंग की ओर से, उसके भावों का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हुए निम्नलिखित पंक्तियों को भी जन्म देती है।

जलने दे ! जलने दे ! निर्दय मत उसका यह भाग !
जलनेवालों की पीड़ा से क्यों इतना अनुराग !
सोचा है, पतंग क्यों करते हैं दीपक से प्यार !
उसी अन्त में सुख है, जिसको कहते अत्याचार !
ओ ममत्व ! तू भी हाँ, जल जा इस ज्वाला के संग।
सोने की लपटों से कर ले आज सुनहला रंग॥

चकोरीजी की कविताओं में देश की करुण वेदना का स्वर भी सुनायी पड़ता है:—

कितने अटल युगों से सुनती आती हूँ यह बात।
दूर-दूर है अभी दूर है मेरा स्वर्ण प्रभात॥
अधिकारों की माँग, दासता का है भीषण पाप।
घात और प्रतिघात पतन के कहलाते अभिशाप॥
अभी नहीं सूखे हैं मेरे उर के तीखे घाव।
जिसकी कसक जगाती रहती है विरोध के भाव॥
मानवते! कुछ ठहर, न उसका, छिपी हुई वह आग।
आज शहीदों के शव पर गाने दे व्यथित विहाग॥

चकोरीजी की कुछ अन्य रचनाएँ नीचे दी जाती हैं। इनमें कवि-भावुकता का चमत्कार देखने योग्य है:—

[१]

प्रतिरोध

अरे! छेड़ मत, इस तंत्री के अस्त-व्यस्त हैं तार।
रहने दे, रहने दे अपना झूठा, क्षणिक दुलार॥
मत दिखला मुझको सुख-स्वप्नों का सुन्दर संसार।
अरे! प्रलोभन-पूर्ण हटा ले जा अपना उपहार॥
नहीं चाहिए मुझको तेरा वैभव-पूर्ण विषाद।
हाय! वेदनाहीन करेगा, यह है कैसा नाद!
यहीं ध्वंस हो जाने दे चिर-संचित मधुर उमंगें।
यहीं लीन होने दे इच्छाओं की तरल तरंगें॥
दूर, दूर, मत रोक मुझे इस सरिता में बहने दे।
मौन स्वरों में विस्मृति की अब मुझे कथा कहने दे॥

[२]

खँडहर से—

अरे, कौन तुम शान्त पथिक से यहाँ पड़े हो मूर्च्छित-से,
किस प्राचीन विगत वैभव के विस्मृत चिन्ह अपरिचित-से?
कहो अपना इतिहास
किया किसने यह नाश!

हुआ तुम्हारा किन हाथों से था अनुपम शृंगार;
कभी जगमगाते थे धारणकर तुम विद्युत-हार।
तुम्हें थी क्या तब शांति,
आज निकली जो भ्रांति!

कभी गगन-चुम्बन करने के थे प्रयत्न में चूर;
रत्नों से थे जटित, रम्य रुचि आभा थी भरपूर।
तुम्हारा वह उत्थान
पतन का ही था गान!

कभी महाराजाओं के थे तुम सुख-शयनागार;
कभी निराश्रित पथिकों के थे बने तुम्हीं आधार।
वही तुम यों [illegible]
पड़े हो अब [illegible]!

अरे, कौन तुम, ज़रा बता दो, किस समाधि में लीन,
हुए भूपतित, नग्न-भग्न यों मौन, शून्य, हत, दीन।

तुम्हारा स्वर्गोद्यान,
हुआ कैसे पापाग्र !
जगत तिरस्कृत करता है तुमको अब भूल अतीत;
तुम्हें देख प्रति व्यक्ति आज हो जाता है भयभीत।
तुम्हारी दशा विलोक,
शोक को होता शोक !
ठोकर खा, अपमानित हो सदियों से हो तुम सोते ;
अपनी दीनावस्था पर क्या नहीं कभी हो रोते !
लखो तो मेरी ओर,
मौन की तोड़ो डोर !
अरे, कहो वह कसक-कहानी जो बरसाती पीड़ा,
किस कठोरता ने उर-अन्तर पर की हँस-हँस क्रीड़ा !
कौन फल सहते आज,
तुम्हारे भग्न समाज ?
एक बार इस निर्जनता में प्रलय-गान दो छेड़ !
किये गये अत्याचारों की तह दो आज उधेड़ !
जला दो वह्नि सक्रोध,
उसी से लो प्रतिशोध !
अपने जीवन के रहस्य का प्रथम पृष्ठ दो खोल;
अरे, देख लूँ पतित ! आज तुम कितने हो अनमोल !
अभी है क्या कुछ सार ?
हो चुके या निस्सार !

[३]

दीपावलि !

ओ ज्योतिमयी ! सौन्दर्यमयी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है।
आनन्दमयी ! उत्साहमयी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है॥
ये नन्हें-नन्हें से प्रदीप, जगमगा रहे दीवालों पर,
मानों कहते हैं सानुरोध, आओ दीपावलि ! स्वागत है॥
इस बार कहो क्या शक्ति और साहस लेकर तुम आई हो!
यदि हाँ, तो ओ औदार्य्यमयी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है।
अथवा स्वदेश श्री-हीन देख, धन-धान्य पूर्ण करने आई !
आओ लक्ष्मी ! आओ जननी ! आओ दीपावलि ! स्वागत है॥
क्या स्वतंत्रता की देवी हो अथवा भारत-सौभाग्य, कहो,
हम सब में शक्ति जगाने को, आओ दीपावलि ! स्वागत है॥
या अमर शहीदों की समाधि पर तुम दो फूल चढ़ाने को,
कुछ ममता लेकर आई हो, आओ दीपावलि ! स्वागत है॥
या भारत के सपूत प्यारे, मर मिटने को जो निकल पड़े,
उनका प्रण सफल बनाने को, आओ दीपावलि ! स्वागत है॥
हम सब स्वतंत्रता-वेदी पर, श्रद्धाञ्जलि लेकर खड़ी हुईं,
हे देवि ! उसे तुम ग्रहण करो, आओ दीपावलि स्वागत है॥

[४]

अदृश्य चित्र

अरे चितेरे ! किस भविष्य का तूने चित्र बनाया !
बता, बता, किसके मानस का है यह भाव चुराया !

शैशव के भोलेपन-सी, नवयौवन की आँधी सी—
अरे बता, किसके अदृष्ट की यह अजान प्रतिछाया !

❋ ❋ ❋

क्या भविष्य इतना उज्ज्वल है, बोल अरे मतवाले !
क्या न इसे भी ढक सकते हैं बादल काले-काले ?
अभी विहँसती है प्राची में जो यह स्वर्णिम रेखा ॥
आती होगी निशा-तिमिर के भीषण तीर सँभाले ।

❋ ❋ ❋

अरे प्रवंचक ! अब न पिला इस मादकता की हाला ॥
अरे देखने दे भविष्य का केवल अमिट उजाला ।
हाय, तनिक तो सोच कि जग का नित्य नियम है कैसा !
सुख की गोदी में ही तो पलती जीवन की ज्वाला ॥

❋ ❋ ❋

संसृति के झूठे सपनों में मन की ममता भूली—
अरे चितेरे ! अब न फेर इस पट पर अपनी तूली !

[५]

उस समय

पी वह विषाद की मदिरा, वीणा बेसुध हो जाती ।
उन थके हुए तारों पर, विस्मृति आकर इठलाती ॥
झिलमिल तारों में छिपकर, आती है निशि दीवानी ।
लिख जाती तम के तट पर, भूली वह करुण कहानी ॥

तब स्वर्ग लुटा देता है, होकर जग सुप्त अचेतन।
पलकों पर स्वप्न थिरकते, जीवन के वैभव से बन॥
नीरवता के नर्तन में, सूनेपन की वे घड़ियाँ।
कहतीं कुछ मौन स्वरों में सस्मित नभ की फुलझड़ियाँ॥

छूकर आकुल प्राणों को, उनका संदेश निराला।
आ मुग्ध पिला जाता है, पागल पीड़ा का प्याला॥
उल्लास लिये अञ्चल में मदमाती हो इठलातीं।
कुछ हँसती, कुछ सकुचातीं, चाँदी-सी रातें आतीं॥

उनमें चित्रित है मेरा, बेसुध अतीत अलसाया।
किस युग से देख रही हूँ, उसकी धुँधली-सी छाया॥
वह दिव्य ज्योति स्मृति नभ की, मैं विस्मृति की अँधियारी।
उसके मलीन अञ्चल में है छिपी साधना प्यारी॥

बिखरे आँसों के मोती, आहें ले गयी उड़ाकर।
चमकीले स्वर्ण-कणों को जड़ दिया क्षितिज पर जाकर॥

चकोरीजी की यह कामना भी अत्यन्त अभिरामतामयी है:—

गगनांचल में कलाकार के हास्य-सा चंद्रमा भी मुसका रहा हो।
निशा के लिए मार्ग में चाँदनी के अति कोमल पुष्प बिछा रहा हो।
मनोमन्दिर में प्रतिमा निशा की रख मुग्ध-सा ध्यान लगा रहा हो।
मणि-माणिक के बँधे तोरण हों, नभ तारों के दीप जला रहा हो।

जग डूब रहा हो अचेतना में, यमुना कल गान सुना रही हो।
उन्हीं राधिका-कृष्ण की प्रेम-कथा के मनोहर चित्र बना रही हो।
कुछ श्वेत-सी हो यमुना की तटी जो अतीत के पृष्ठ गिना रही हो।
वहीं रूठ के बैठ गया हो चकोर, चकोरी सभक्ति मना रही हो॥

वहीं बैठ के ध्यान तुम्हारा धरूँ, तन-प्राण तुम्हीं में विसर्जन हों।
पद पूजने को कुछ हो या न हो, पर आँसुओं के बिखरे कण हों।
फल, अक्षत, पुष्प हों भावना के, तुम्हें बैठने को हृदयासन हो।
करूँ आरती भक्ति-प्रदीप जला, उस ज्योति में भारती-दर्शन हो॥

अभी चकोरीजी का अल्प वय ही है, फिर भी उन्होंने अपनी सहृदयता से काव्य-रसिकों को आनन्द प्रदान करने की चेष्टा की है। आशा है, उनकी लेखनी, प्रौढ़ता प्राप्त होने पर, इस क्षेत्र में, अपूर्व रस की वृष्टि करेगी। एक विनम्र प्रार्थना के साथ हम अपने इस निवेदन को समाप्त करते हैं। और वह यह कि वे काव्याराधना में अपने हृद्गत उद्गारों की अभिव्यक्ति में किंचित् अधिक संयत होने का उद्योग करें।



पुरुषार्थवती देवी 

श्रीमती पुरुषार्थवती देवी का जन्म ८ अक्टूबर सन् १९११ को, दिल्ली में, लाला चिरंजीतलालजी के यहाँ हुआ था। खेद है, इस होनहार और प्रतिभाशालिनी बालिका को अल्प वय ही में इस संसार से विदा ले लेनी पड़ी; ११ फरवरी, सन् १९३१ को इनका स्वर्गवास हो गया। इनकी जिन रचनाओं का अवलोकन यहाँ पाठक करेंगे, वे अधिकांश में विवाह के पहले ही, जो २४ अगस्त, सन् १९३० को हिन्दी के सुयोग्य लेखक श्रीयुत् चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के साथ सम्पन्न हुआ था, लिखी गयी थीं। इन रचनाओं के सम्बन्ध में एक समालोचक का "विश्वमित्र" में प्रकाशित मत देखने योग्य है। वे कहते हैं:—

पंत जी के "पल्लव" और "वीणा" के बाद हिन्दी की कविताओं का ऐसा अच्छा संकलन हमें कहीं अन्यत्र देखने को नहीं मिला। हमें अत्यन्त खेद तथा लज्जा के साथ स्वीकार करना पड़ता



स्व० श्रीमती पुरुपार्थवतीदेवी

है कि लेखिका के नाम से और उनकी कविताओं से हम आज पहले पहल परिचित हुए हैं। एक आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी स्त्री-कवि ऐसी सुन्दर, सरस और भावुकता-पूर्ण कविताओं को लिखकर इस लोक से सिधार भी चुकी और हम उसके नाम से भी परिचित न रहे, इस अक्षम्य दोष के लिए हमारी उदासीनता बहुत-कुछ अंश में दायी हो सकती है। तथापि हिन्दी के उन "प्रोपेगेण्डिस्ट" आलोचकों का भी इसमें कुछ कम दोष नहीं है, जो अपने किसी विशेष गुट के लेखक अथवा लेखिकाओं की प्रशंसा में "अहोरूप-महोध्वनिः" के नारे लगाते रहते हैं और पक्षपात-हीन होकर वास्तविक योग्यता की खोज के लिए कभी लालायित नहीं रहते। सामयिक पत्रों में पेशेवर साहित्यिकों की निन्दा-स्तुति की अनावश्यक चर्चा के बदले यदि हमारे साहित्यालोचकगण वास्तविक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक-लेखिकाओं की अपरिचित अथवा अल्प परिचित रचनाओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आज धांधागर्दी और तू-तू मैं-मैं का बोलबाला न होता।

श्रीमती पुरुषार्थवती की एक-एक कविता हमें "अनाघ्रातं पुष्पम्" की तरह नवीन और निष्कलंक लगी है। उनकी सरसता और कमनीयता जैसी अतुलनीय है, विचारों की प्रौढ़ता और भावों की विचित्रता में भी उनका स्थान उसी प्रकार निराला है। मालूम हुआ है कि केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही उनका प्राणान्त हो गया! इस कारण उनकी परवर्ती कविताओं से रहस्यमय भावों की गम्भीरता हमें और भी आश्चर्य-चकित करती है। उनके 'रोमाण्टिक'

है कि लेखिका के नाम से और उनकी कविताओं से हम आज पहले पहल परिचित हुए हैं। एक आश्चर्यमयी प्रतिभाशालिनी स्त्री-कवि ऐसी सुन्दर, सरस और भावुकता-पूर्ण कविताओं को लिखकर इह लोक से सिधार भी चुकी और हम उसके नाम से भी परिचित न रहे, इस अक्षम्य दोप के लिए हमारी उदासीनता बहुत-कुछ अंश में दायी हो सकती है। तथापि हिन्दी के उन "प्रोपेगेण्डिस्ट" आलोचकों का भी इसमें कुछ कम दोप नहीं है, जो अपने किसी विशेष गुट्ट के लेखक अथवा लेखिकाओं की प्रशंसा में "अहोरूप-महोध्वनिः" के नारे लगाते रहते हैं और पक्षपात-हीन होकर वास्तविक योग्यता की खोज के लिए कभी लालायित नहीं रहते। सामयिक पत्रों में पेशेवर साहित्यिकों की निन्दा-स्तुति की अनावश्यक चर्चा के बदले यदि हमारे साहित्यालोचकगण वास्तविक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक-लेखिकाओं की अपरिचित अथवा अल्प परिचित रचनाओं को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते, तो हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आज धांधागर्दी और तू-तू मैं-मैं का बोलबाला न होता।

श्रीमती पुरुपार्थवती की एक-एक कविता हमें "अनाघ्रातं पुष्पम्" की तरह नवीन और निष्कलंक लगी है। उनकी सरसता और कमनीयता जैसी अतुलनीय है, विचारों की प्रौढ़ता और भावों की विचित्रता में भी उनका स्थान उसी प्रकार निराला है। मालूम हुआ है कि केवल उन्नीस वर्ष की अवस्था में ही उनका प्राणान्त हो गया!

इस कारण उनकी परवर्ती कविताओं से रहस्यमय भावों की गम्भीरता हमें और भी आश्चर्य-चकित करती है। उनके 'रोमाण्टिक'

भाव रहस्यमय हैं। सन्देह नहीं; तथापि अमावस्या के गहन तिमिर के आवरण-जाल के भीतर स्वच्छ, तरल तारकाओं की तरह टिम-टिम करते हैं। प्रारम्भ की दो-चार कविताएँ शायद एकदम अपकावस्था में लिखी गयी थीं, इसलिए उनमें हिन्दी की अर्थ-हीन कविताओं के "छायावादी महाकवियों" की छाया स्पष्ट रूप में पायी जाती है। पर पीछे की कविताओं में लेखिका का अपनापन, उसकी निगूढ़ भावुक अन्तरात्मा से निःसृत अपूर्व अकलंक शुभ्रफेनोच्छ्वसित निर्झर-धारा ही प्रवाहित हुई है। सुन्दर छन्दों की विचित्रता तथा झकार से इस धारा की महिमा और भी बढ़ गयी है। कविताओं से पता चलता है कि लेखिका ने अपने प्रत्येक भावोच्छ्वास को अपने हृदय में भली भाँति अनुभूत करके फिर उसे व्यक्त किया है। इसी कारण उनकी "अन्तर्वेदना सीधी मर्म में आकर तीव्रता से आघात करती है।"

एक अन्य सज्जन का कथन है:—

"इन कविताओं की लेखिका के हृदय में तो बहुत कुछ है; परन्तु हृदय के उन भावों का प्रकाशन उस अनुपात में नहीं हो सका है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन कविताओं में विवशता का भाव बहुत अधिक आ गया है। एक दृष्टि से इस तथ्य ने उस बाला-कवयित्री की कविताओं की क़ीमत और भी अधिक बढ़ा दी है"।

इस दिवंगता देवी का प्रकृति के प्रति अनन्य अनुराग उसकी

कविता में भी झलक पड़ा है। निम्नलिखित पंक्तियाँ इसकी साक्षी हैं:—

[१]

निर्झर

सदा दृग-जल से रोता विश्व, हृदय तुम देते अपना चीर।
कहाँ पाओगे प्रेम-अनन्त, बहाकर अपना मानस-नीर॥
खींचकर स्वर-लहरी के बीच, वेदना के सूने उद्‌गार।
निरन्तर देते हो सन्देश, नहीं पाते हो फिर भी प्यार॥
हृदय करता है हाहाकार, किन्तु रहता है मुख अम्लान।
प्रेम-पथ करते हो निष्कपट, थामकर आँखों का तूफ़ान॥
व्यथित मानस-पल्लव के बीच, जभी झिलमिल करती है चाह।
खींचकर उच्छ्वासों को आह, रोक लेते थे धीमी आह॥
साधना में प्राणों को छोड़, कभी पाओगे स्नेह-अनन्य।
मौन जब निकलेगा संगीत, मुग्ध वे घड़ियाँ होंगी धन्य॥

[२]

मीठा जल बरसानेवाले

नील वर्ण की चादर डाले घुमड़-घुमड़कर आनेवाले।
नगर, गाँव, गिरि-गह्वर, कानन निज सन्देश सुनानेवाले॥
तूने देखा सभी ज़माना, पहला गौरव भी था जाना।
वर्तमान तूने पहचाना, लुटा चुके हम सभी ख़ज़ाना॥
दिन खोटे आये जब अपने, सुखद दिनों के लेते सपने।
साहस बल सब कुछ खोकर हम स्वार्थ-माला ले बैठे जपने॥

ऐसा अमृत-जल बरसा दे, तप्त दिलों की प्यास बुझा दे।
धीरों का संदेश सुना दे, हमको निज कर्तव्य सुझा दे॥
हे स्वच्छन्द विचरनेवाले, हे स्वातन्त्र्य-सुधा-रसवाले।
हमको भी स्वाधीन बना दे, मीठा जल बरसानेवाले॥

[३]

पतझड़

इन पंखों में तड़प उठा है यह मेरा मृदुहास
खिलकर भी इसमें पाया है भीना-भीना हास॥
बाल-सुलभ-चञ्चलता खेली पंखड़ियों पर प्यार।
कितने ही वसन्त मुर्झाये यह विधु-वदन निहार॥

नवयौवन का मद मतवाला फिर-फिर बजते तार।
इस तन पर निसार होता था अलि का जीवन-सार॥
वह परिहास हास, जिसमें था-पाया पूर्ण विकास।
समझ न सकती थी मैं इसमें भी है छोण विनास॥

ऊँची डाली पर देखा था यह विस्तृत संसार।
अब छिति के उजड़े दिल में है खोजा इसका पार॥
खुले हुए थे जग भर के हिय में थी उनका हार।
किन्तु शेष है अब तो केवल पौरुष, पाद-प्रहार॥

आह ! याद करके क्या होगा अपना गत संगीत।
भूल जायँ विस्मृतियों में ही मेरे राग-पुनीत॥
सुनी अनसुनी करदो, मेरी नीरस-करुण-पुकार,।
जाती हूँ वेदना भरे मन से अनन्त के द्वार॥

[४]

सरिता के प्रति

सजनि ! कहाँ से बही आरहीं, चलीं किधर, किस ओर।
किसके लिये मची है हिय में, यह व्याकुलता घोर॥
अगणित हृदयों में छेड़ी है मूक व्यथा अनजान।
कितने ही सूनेपन का, कर डाला है अवसान॥
बिछा प्रकृति का अन्चल सुन्दर तेरा स्वागत सार।
चूम-चूमकर वृक्ष झूमते ले-ले निज उपहार॥
सतत तुम्हारे मन-रञ्जन को विहग करें कल्लोल।
तुम्हें हँसाने को ही निशिदिन बोलें मीठे बोल॥
बुझते जाते धीरे-धीरे नक्षत्रों के दीपक।
स्नेह-शून्य होकर के मानो दिखलाते-से हैं पथ॥
नीरव कुञ्ज हुए मुखरित सुन तव निनाद-गम्भीर।
मतवाले प्यासे पी तुझको होते अधिक अधीर॥
कितने निर्झर दिखा चुके हैं तुझको निज हिय-चीर।
किन्तु न भरता उनसे तेरा शोक उदधि गम्भीर॥
किसके हित सकरुण विहाग सम अविश्रान्त यह रोदन।
नीरस प्रान्तों में बखरेतो क्यों अपना भीगा मन॥

क्या आगे बढ़कर पाओगे अपने चिर-आराध्य।
चलो, चलें, तब मिलकर सजनी मिटे हृदय की साध॥

[५]

दलित कलिका

मुझे देखकर खड़े हँस रहे, विकसित सुन्दर फूल।
करते हो परिहास हास, तरु शाखाओं पर झूल॥
हाव-भाव से अपने जग को देते सरस सुवास।
मुझे देख गर्वित हो करते किन्तु, व्यंग उपवास॥
यदपि धूलि-धूसिता बनी मैं—हूँ सौन्दर्य-विहीन।
भूमि-शायिनी, पदाक्रान्त हो हुई कान्ति द्युति-हीन॥
नव जीवन का उषः काल था कुसुमित यौवन-उपवन।
रस-लोलुप मधुकरदल करता था सहर्ष आलिंगन॥
विशद नील नभ से करती थी चन्द्र-सुधा-रस-पान।
मन्द अनिल से आन्दोलित हो, गाती नीरव गान॥
गर्व, दर्प सब खर्व हुआ अब, गिरी, हुई हत-मान।
करुणा-क्रन्दन है केवल अब होने तक अवसान॥
हो गर्वित, उन्मत्त विटप पर झूम रहे हो फूल।
मुझे देख फूले हो, जाना निज अस्तित्व न भूल॥

प्रकृति में मानव व्यक्तित्व का आरोप करने की प्रवृत्ति पुरुषार्थवती में भी देख पड़ती है, किन्तु वह अत्यत संयत मात्रा में है।

श्रीमती पुरुषार्थवती देवी ने नायिका के भी बहुत सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। निम्नलिखित दो कविताएँ पाठक देखें:—

[१]

प्रतीक्षा

ओह ! विदा माँगने आई यह क्षीण हुई उजियाली।
मैं व्यस्त हो उठी अब तो लखकर पश्चिम की लाली॥
आशा की लहरें ठगकर यह सूना—सा अन्धेरा।
रो उठतीं दूर क्षितिज पर रुकता-सा हुआ बसेरा॥
हम नहीं मानते फिर भी इस नैराश्य को, आखिर।
जा-जाकर फिर आ रुकते उस पार वहीं होकर स्थिर॥
कैसे सुलझाऊँ मन को ? निष्प्राण नेत्र हैं चाहें।
उलझाती ही जाती हैं, यह भीगी-भीगी आहें॥
इस पीड़ा में भी क्रीड़ा-कौतुक की अद्भुत खेलें।
अब नहीं सँभाले जाते उद्देश्य-विहीन झमेले॥
कब से बैठी करती हूँ प्राणों से सजल प्रतीक्षा।
ना—जो ! बस दे न सकूँगी निर्मम ! अब अधिक परीक्षा॥

[२]

दर्शन-लालसा

नाथ ! पड़ा सूना मन-मन्दिर कब उसको अपनाओगे।
नेत्र थक गये राह देखते कब तुम फिर से आओगे॥

हूँ पगली मतवाली या मैं फिर भी हूँ चरणों की दास।
प्रेम-तरंग हिलोरें लेतीं आओ, एक बार फिर पास॥
मानस-सर के हंस तुम्हीं हो, हो मेरी तन्त्री के तार।
मेरी जीवन-नैय्या के हो कर्णधार, पकड़ो पतवार॥
देकर झूठे धैर्य नाथ ! अब नहीं मुझे ठग पाओगे।
देर करोगे तो क्या होगा, शून्य कुटी को पाओगे॥

श्रीमती पुरुषार्थवती में अपने देश के प्रति भी ममता थी। उनकी निम्न-लिखित कविताओं में उनका देशानुराग छलक रहा है:—

[१]

वीर सन्देश

उठो, उठो, साहस से वीरो, मत मन में भय लाओ।
वीर वेष से सज्जित होकर, रण-प्राङ्गण में जाओ॥
प्रलयंकर संगीत समर की स्वर-लहरी में गाओ।
करधृत शुचि करवाल, अलंकृत होकर, फाग मचाओ॥
शौर्य-तेज से अपने जग में, विजय-ध्वजा फहराओ।
दुर्बल-दिल में साहस भर दो ताण्डव नृत्य नचाओ॥
सुप्त विश्व को जागृत कर शुचि वीर सँदेश सुनाओ।

[२]

हे माँ !

भारत-जननी ! ऐसा वर दे।
थपकी देकर, चूम-चूमकर, रोम-रोम में साहस भर दे॥
ज्ञान-दुग्ध निज पिला-पिलाकर, अंग-अंग साँचे में ढल दे।

लोरी देकर स्वाभिमान की, निज रक्षण-हित तत्पर कर दे॥
प्रेम-मयी शिक्षाएँ देकर रणचण्डी-सा हिय में बल दे।
ढाल धर्म की सँग में देकर, नेह वर्म से सज्जित कर दे॥
दुष्ट-दलन, खल-दमन करें माँ, शक्ति-शालिनी ! ऐसा वर दे॥

[२]

देशभक्ति का राग

छेड़ दो एक बार फिर तान।
सुन्दर, सुखद, सरस, शुचि, सुमधुर देश-भक्ति की तान॥
निर्जीवी जीवित हों जिससे, निर्बल हों बलवान॥
ऊँच-नीच का भेद मिटाकर होवें सकल समान।
ग्रन्थित होकर एक सूत्र में, समझें निज कल्याण॥
यही चाह हो, यही ध्येय हो, मातृ-भूमि-सम्मान।
देश-वेदि पर कर दो मिलकर, तन मन अर्पण प्राण॥
कष्ट-क्लेश का भारत के हो जाने पर अवसान।
तभी होगा भारत-उत्थान॥

इस देवी के व्यक्तित्व की उच्चता का अनुमान निम्नलिखित मार्मिक पंक्तियों से हो सकता है। वह सरलता और सत्य की ओर कितना उन्मुख था, देखिए:—

हो सुन्दर, सुरभित उपवन, जग को मोहित करता हो।
पर मेरा सूखा पतझड़ ही मुझको रम्य बना हो॥

सज्जित गृह-द्वार खड़े हों, करते हों नभ का चुंबन।
अपनी सूखी कुटिया में मेरा ही ध्यान लगा हो॥
बहता हो सुखद समीरण, संचारक प्राण जगत् का।
पर मेरी जीवन-लड़ियाँ उसमें भी उलझ रही हों॥
विशदांगन में पृथ्वी के क्रीड़ा करते हों प्राणी।
पर मेरा स्थान कहाँ है, यह कोई जान न पावे॥
उपमेय न हो कोई भी, उपमान न कोई मेरा।
मैं भी 'निज' पता न पाऊँ तब जग कैसे पहचाने॥

अल्प वय ही में इस सहृदय कवयित्री के हृदय में उन प्रश्नों का उठना आरम्भ हो गया था जो किसी भी प्रतिभाशाली व्यक्तित्व की महत्ता के सूचक होते हैं:—

सान्ध्य-गगन की ललित-लालिमा, विहग-वृन्द का कलरव गान।
शीत, मन्द, शुचि, मलय-प्रभंजन किसकी अहो दिलाते याद॥
बाल-सूर्य की किरण-राशियाँ उषा सुन्दरी का नट-वेष।
चपल-सरित की अविरल कलरव देते क्या अतीत सन्देश॥
निशाकाल का नीरव गायन सुप्त-विश्व की मुद्रा मौन।
चन्द्र देव की मृदुल-रश्मियाँ क्या कह देती हैं—मैं मौन!
व्यथित हृदय-तन्त्री झंकृतकर कौन यहाँ गाता है गान।
किस अतीत की याद दिलाकर बेसुध कर देता, अनजान॥

श्रीमती पुरुषार्थवतीदेवी की कतिपय पंक्तियों से ऐसी ध्वनि निकलती है मानो लेखिका ने अपने जीवन के निकट अवसान का

संकेत पा लिया हो। जो हो, वे विचित्र रूप से स्वयं उन्हीं के जीवन पर घटित होती हैं। वे 'जीवन-नौका' शीर्षक अपनी कविता में कहती हैं:—

पथ अज्ञात, कठिन; जीवन-नौका डगमग हो जाती थी।
विश्व-सरित की चपल तरंगों में डूबी-उतराती थी॥
कभी निराशा की छाया निज अंचल से ढक लेती थी।
अश्रु-माल इस दग्ध हृदय का क्लेश-ताप हर लेती थी॥
दुखिया की इस दीन दशा पर, चन्द्र देव मुसकाते थे।
नभ-मंडल से चुये सुधाकण भी बलि-बलि हो जाते थे॥
तब भी इस मुसकाये मन में आशा-लहर लहराती थी।
भावों की मंजुल आभा बस क्षीण प्रकाश दिखाती थी॥
अनिल-झकोरों से तम में वह झिलमिल ज्योति विलीन हुई।
मेरी जीवन-नैया भी उस अंतराल में लीन हुई॥



राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी'

कुमारी राजराजेश्वरी देवी 'नलिनी' एक उच्च ब्राह्मण-कुल की कन्या-रत्न हैं। आप के पिता श्रीयुत् पंडित रामशंकरप्रसाद बी० ए० सुशिक्षित और सुविचारशील सज्जन हैं। आजकल आप मिश्रिख (सीतापुर) में तहसीलदार के पद पर प्रतिष्ठित हैं। ज़िला उन्नाव में आपका निवास-स्थान है।

राजराजेश्वरीजी की कविता में माधुर्य्य और सरसता है। कवि-प्रतिभा की वे कृपा-पात्री हैं, इसमें सन्देह नहीं। आशा है, निकट भविष्य में उनकी रचनाओं में यथेष्ट मात्रा में कलात्मकता, परिमार्जन आदि का समावेश होगा।

राजराजेश्वरीजी की निम्नलिखित कविताओं में नारी-हृदय के सौन्दर्य्य की मनोहर अभिव्यक्ति हुई है:—



श्रीराजराजेश्वरी देवी "नलिनी"

[१]

साध मिटाने दो !

आँसू की तरल तरंगों में आहों के कण बह जाने दो।
उस क्षुब्ध अश्रु की धारा में उच्छ्वास-तरणि लहराने दो॥
ऊषा की रक्तिम आभा से लोचन रञ्जित हो जाने दो।
अन्तर्वीणा को व्यथा-भरी बस करुण रागिणी गाने दो॥
सुनती पीड़ा में व्याप्त प्रभो ! मुझको पीड़ा अपनाने दो।
निज प्राण-विभव से मुझे देव ! निज चरण अलंकृत करने दो॥
पीड़ा से कर के प्यार मुझे अपने ही में मिल जाने दो।
जैसे तुमको पाना दुष्कर ऐसे ही तो फिर पाने दो॥
तुम बनो देव आराध्य मेरे, निर्माल्य मुझे बन जाने दो।
निज चरणों के ढिग आने दो ! मुझको निज साध मिटाने दो॥

[२]

कामना

मम मन-मन्दिर में एक बार, बस एक बार ही तुम आते।
इस दुखिया की, इस दीना की, साधन सफल तुम कर जाते॥
बिठला करके हृदयासन पर, अंतर्पट शीघ्र लगा देती।
तेरे अभिनन्दन में प्रियतम जीवन निधियाँ बिखरा देती॥

मम तृषित-दृगों को एक बार, तुम दर्शन-सुधा पिला जाते।
इस दुखिया की, इस व्यथिता की, सफला साधना बना जाते॥

अभिषेक तुम्हारा कर देतीं, तुमको ही मान इष्ट ! ईश्वर।
अस्फुट भाषा बनकर मञ्जुल मृदु कुसुम, बिखर जाती तुम पर ॥

मेरे आसू बन नेह-नीर, करते पद-पंकज प्रक्षालन।
जीवन-वीणा पर तेरा ही अनुराग-राग करती गायन ॥
मम प्राणों के कण-कण भगवन् ! तुम में विलीन बस होजाते।
आहें बन जातीं प्रेम-भवन, वेदना मधुमयी मंजु-लहर ॥

मन्जुल लहरी से हो जाता मधुसिक्त मृदुल मम अभ्यन्तर।
पीड़ा बन जाती वीणा-स्वर, गाती स्वागत के गान मधुर ॥
उच्छ्वास प्रणय-सन्देश सुना प्रमुदित करते तुमको प्रभुवर।
तव हृदय-मंच पर मंजु प्रणय के नये प्रेम-अभिनय होते ॥

मम-कलित-कल्पना कलिका का, तुमको लखकर विकास होता।
आशाओं की होती सुमूर्ति, अभिलाषा का विलास होता ॥
हँस उठते मेरे शुष्कअधर, उल्लासों की क्रीड़ा होती।
मम-हृदय व्यथा भी मिट जाती, यदि हृदय-देव को पा जाती ॥

'नलिनी' निज नयन बिछा देती, तव-पथ में यदि आ तुम जाते।
तन मन सर्वस्व समर्पण कर, मम प्राण तुम्हीं में रम जाते ॥

[३]

वेदने !

(१)

अभ्यन्तर के निभृत प्रान्त में, प्राणों की सरिता के कूल।
खूब वेदने बाल ! खेल, नयनों से बिखरा आँसू-फूल॥

(२)

आज हमारे प्रणय-जगत् में, सजनि तुम्हारा है आह्वान।
है आराध्य-अभाव यहाँ तू, आ अभाव की मूर्ति महान॥

(३)

मृदुल हृदय परिरम्भण कर तू, कर सहर्ष हे सजनि विहार।
जीवन के उजड़े निकुंज में, भर दे निज वैभव का भार॥

(४)

अरी ! चयन कर ले अंचल में, सुभग साधना-कुसुम पराग !
चपल चरण से कुचल मसल कर, गा तू अपना तीखा राग॥

[४]

हार

कुसुमों के कमनीय वलित कुंजों के कुसुम चयनकर नाथ।
मृदुल माल एक रुचिर बनायो रच-रचकर निज कम्पित हाथ॥
पूजा का कुछ साज नहीं है देव ! आह ! दुखिया के पास।
किन्तु हार, में संचित है मम सरल स्नेह की सरस सुबास॥
इस अनुराग-माल में गुम्फित है मेरा जीवन सुकुमार।
आयो ! देव ! पिन्हादे 'नलिनी' पा जावे जीवन का सार॥

[४]

जीवन-इतिहास

हृदय-देश के सुन्दर सूनेपन को आह मत लुटाओ।
अपनी वाणी का मृदु वैभव निठुर ! यहाँ मत बिखराओ ॥
नीरवता की गोदी में पीड़ाएँ सुख से सोती हैं।
बिखर गये नयनों की मंजूषा के सारे मोती हैं॥
सुखद शान्ति साधन यह मेरी मौन-समाधि न भंग करो।
ज्वाला ज्वलित न करो पुरानी सीपी में मुक्ता न भरो॥

× × ×

आह ! पढ़ो मत पढ़ न सकोगे यह विस्तृत सकरुण इतिहास।
लघु जीवन के व्रण-वर्णन लूटे सुख का धुँधला आभास ॥
कहीं न पृष्ठों के निनाद से सुप्त व्यथाएँ जग जायें।
सुभग शान्ति-नन्दन कानन में आह न शोले बरसायें ॥
कहीं न मुखरित आह हो उठे फिर वह नीरव हाहाकार।
तड़प न उठे भग्न उर फिर से विफल न होवे यह अभिसार ॥

× × ×

नहीं छलकता है मधु उससे नहिं मुसकानों का इतिहास।
नहीं हास्य-गाथा उसके सुनने का करो न विफल प्रयास ॥
विस्मृति की मादक मदिरा पी मुझे मौन बस रहने दो।
जीवन-निर्झर को अनंत की ओर शीघ्र अब बहने दो ॥

छोटे से जीवन की विस्तृत गाथा प्रकट न होने दो।
विस्मृति के घन अन्धकार में मूर्छित होकर सोने दो॥

× × ×

[६]

ललित-लालसा

आशा की सूनी कुटीर में यह नैराश्यों का अधिवास।
उर-उपवन में बिखर रहा है पीड़ाओं का मृदु मधुमास॥
आह! खोगई व्यथित हृदय की चिर संचित मृदु आकुल श्वास।
आज रोरही रजकण में मिल आह! विकल प्राणों की प्यास॥

× × ×

जीवन की अवशेष घड़ी में देव! दया कर आजाना।
अपने करुणा के अंचल से करुणाकण बिखेर जाना॥
प्रिय! मेरी आशा-समाधि पर दो आँसू ढुलका जाना।
तृषित मूक प्राणों की पागल प्रबला प्यास मिटा जाना॥

[७]

कुसुमाकर!

मानस-मधुवन में आया है सजनि! आज वेदना-वसंत।
विपुल व्यथा की सकरुण सुषमा छाय रही है आज अनंत॥
करुणा-कोकिल सुना रही है अपना विह्वल विकल विहाग।
नयन-कली की मृदु प्याली में भरा हुआ है अश्रु-पराग॥

चलता है उच्छ्वास-मलय नैराश्यों की सौरभ के साथ।
ढुलका रहा विषाद हृदय की हाला भर-भर दोनों हाथ॥
अन्तर के छाले पलाश वन-सम शोभित हैं अरुण अपार।
व्याप्त होरहा है मधुमय पीड़ाओं के वैभव का भार॥

कितना सुन्दर कुसुमाकर का विश्व-कुंज में आजाना।
पर कितना मादक मेरे मधुवन में उसका मुसकाना॥

[८]

अनुरोध !

मलयज-शीतलता भार लिये, नव-कलिका सा मृदु प्यार लिये।
मम आशा की मधुमय कलियाँ बनकर बसंत विकसा जाना॥
बासंती सी मृदु सुषमा ले पुष्पों सी मधु लालिमा लिये।
मम सूखे जीवन उपवन में मधु-सीकर बन के बरस जाना॥

शुचि सरस सुकोमल भावों की, कालिन्दी कलित कलोलमयी—
बनकर मेरे कल्पना-देश में, देव ! प्रवाहित हो जाना।
नव वीणा की झंकार लिये, मृदु अतीत गौरव-गान लिये—
वह भूला मोहक मधुर गान, बन जीवन-सार सुना जाना॥

शुचि स्वर्ण स्वप्न का विभव लिये सुख का अक्षय आभास लिये—
मेरी अलसाई पलकों पर तुम चिरनिद्रा बन छाजाना।

स्वर्गिक अनन्त सौन्दर्य लिये, क्रीड़ा का हास-विलास लिये—
कोमल अलसित-सुषमा-लज्जित-निज मंजु रूप दिखला जाना ॥

वरदानों का उपहार लिये, आशीष-सुधा की धार लिये—
मेरे हृद्-मंदिर में आकर आराध्य ! सुशोभित हो जाना।
मुसकानों का संसार लिये, आनन्दमयी झंकार लिये—
पीड़ा से पागल प्राणों को, प्रिय ! आकर आह हँसा जाना ॥

कमनीय कलित सुविकाश लिये, ऊषा-सा अरुण प्रकाश लिये—
बनकर सुप्रभा-सौभाग्य सूर्य 'नलिनी' का हृदय खिला जाना।

इस सहृदय कवयित्री ने नारी-हृदय के आराध्य-देव की भी बहुत सुन्दर मूर्त्तियाँ अंकित की हैं। पाठक नीचे की कविताओं में इन्हें देखेंगे:—

[१]

मधुर मिलन

गोधूली के अंचल में, छिप गयी सुनहली ऊषा।
दिनकर चल दिये विदा हो, खुल गयी गगन-मंजूषा ॥

सूने अम्बर पर बिखरीं निशि की विभूतियाँ सारी।
राका-राकेश-मिलन को आयी थी मधुमय बारी ॥

मुसकाती इठलाती-सी कामिनी विभावरि आयी।
जग-शिशु मुख पर उसने निज अलकावलियाँ बिखरायीं॥

वह सूनेपन की रानी सूनापन लेकर आयी।
सारी संसृति में उसकी मुसकान मनोहर छायी॥

निज वैभव पर गर्वित हो हँसती थी रजनी-बाला।
आये फिर कर में लेकर निशिनाथ सुधा का प्याला॥

सारी संसृति में शशि ने स्वर्गीय सुधा ढलकायी।
चहुँ ओर असीम अलौकिक अनुपम मादकता छायी॥

करता था जग अवगाहन शशि-सुधा-सुभग लहरों में।
उल्लास असीम भरा उन आह्लादों के प्रहरों में॥

गाती निशि निज वीणा पर नीरव संगीत निराला।
श्रुति-पुट में रस सरसा यह जग को करता मतवाला॥

मेरा हिय उलझ रहा था उद्गारों की उलझन में।
रह-रह पीड़ा होती थी अभिलाषा के कंपन में॥

आशाओं के फूलों की बिखरी पंखड़ियाँ प्यारी।
उच्छ्वासों के झोकों में उड़ गयी आह! वह सारी॥

व्यथा सुपुप्सा करवट से हो उठी प्राण में तड़पन।
प्राणों की पागल पीड़ा से हुआ आह! मूर्छित मन॥

तब शान्तिमयी निद्रामम गीली पलकों पर छायी।
इस करुण दशा पर मानों उसको थी करुणा आयी॥

दे शान्ति मुझे उसने यों स्वप्नों के साज सजाये।
मेरी आशाओं के धन मुझको उसने दिखलाये॥

निशि की काली अलकों में जो श्यामल वेष छिपाये—
वह करुणामय थे मेरे मृदु स्वप्न-जगत् में आये।

सुख सीमा हुई अपरिमित देखा जब प्रिय मानस-धन।
कृतकृत्य होगयी करके करुणामय का शुभ दर्शन॥

उपमा क्या हो सकती है कोई मेरे उस सुख की।
असमर्थ जिसे कहने में हो जाता है सत्कवि भी॥

उन पद पद्मों में तत्क्षण निज मानस पुष्प चढ़ाया।
बनकर उपासिका स्वयमपि उनको आराध्य बनाया॥

उस क्षण-सुख में जीवन का सारा उल्लास खिला था।
उल्लासों के अंचल में पीड़ा का सार छिपा था॥

ऊषा के अवगुंठन में छिप गया सुनहला सपना।
मेरे सुखकी लाली ले शृंगार किया हा अपना॥

[२]

आशंका

हृदय-अंचल में रक्खा मूँद, उमड़ते भावों का तूफ़ान।
नयन की मृदु कनीनिका मध्य, छिपा आँसू का करुण उफान॥
साधना का अवगुंठन डाल, मौन के आसव का कर पान।
मिटाने को जीवन-अभिशाप, निभृत में किया शांति आह्वान॥
छेड़ना यहाँ न विस्मृत गीत, खोजना मत खोया अनुराग।
भंग मत करना मौन समाधि, कहीं लुट जाय न मधुर विराग॥
हृदय-प्याले से छलक न जाय, कहीं वह आसव-चिर-उन्माद।
कहीं पाकर सुस्मृति-आभास, जग उठे आह न सुप्त विषाद॥

[३]

अज्ञात !

किसने जीवन-प्याली में करुणा का आसव ढाला।
किसने था मुझे पिलाया पागल पीड़ा का प्याला॥

किसने अन्तर्वीणा के मृदु तारों को बिखराया।
किसने मेरा मौक्तिकमय नयनों का कोष लुटाया॥

किसने मुझको सिखलाया उच्छ्‌वास-वितान बनाना।
वाणी-वीणा पर सकरुण आहों के गाने गाना॥
किसने विषाद बिखराया है मेरे हृदय-सदन में।
करती क्यों निपट निराशा नर्तन आशा-मधुवन में॥

किसने अनंत पीड़ा का उपहार अनूप दिया है।
अज्ञात कौन वह ! जिसने यह निष्ठुर खेल किया है॥

(४)

प्रतीक्षा

कब से इस सूने पथ पर, बैठी हूँ नयन बिछाये।
निष्ठुर बनमाली ! तेरे चरणों में ध्यान लगाये॥
तेरे स्वागत-हित, उर में, आशा का दीप जलाये।
उत्सुक हो, गिनती घड़ियाँ, पूजा का साज सजाये॥
तो भी उस मधुर मिलन की, आती न अवधि वह प्यारी।
जिसमें चित्रित है मेरी, नव सतत साधना सारी॥
उत्तप्त-तपन उपजाती, हैं आकुलता की घड़ियाँ।
अमल-कमल-दल से हैं, टूटी प्राणों की लड़ियाँ॥
करुणा-सागर में बिम्बित, तेरा प्रतिबिम्ब मनोहर।
लहराता-सा इठलाता, शरदिन्दु व्यथा बिखराकर॥

अमृत की निर्झर सरिता, है एक ओर सरसाती।
फिर भी प्रणयी को क्यों कर, विरहानल है झुलसाती॥
उठतीं नैराश्य हिलोरें, "क्या नाथ न अब आवेंगे?
क्या विश्व-विमोहन वंशी-स्वर श्रवण न सुन पावेंगे॥
ऐसी निष्ठुरता, निर्मम! करना क्या तुम्हें उचित है।
"दुखियों को और दुखाना" ऐसा भी क्या समुचित है?

राजराजेश्वरी देवी के हृदय के एक कोने में देश की वेदना के प्रति अपार सहानुभूति का भी निवास है। वे उसके गौरव का ध्यान कर स्वाभिमानपूर्वक गाती हैं:—

जय शस्य श्यामले जन्मभूमि।
जय वीर प्रसविनी मातृभूमि॥
हिम शैल सुभग तेरा किरीट, मृदु मंजु वसन दूर्वा हरीट।
सुरसरि की पावन धवल ऊर्मि, लेती है तव श्रीचरण चूमि॥
करता सुधांशु अमृतवर्षण, धोता रत्नाकर चारु चरण।
करता है आलोकित दिनकर, करते तव सुरभित पुष्प निकर॥
तेरी महिमा है अद्वितीय, गौरव गरिमा है अकथनीय।
जय जयति जयति हे दिव्य भूमि, जय जय जग पावन वीर भूमि॥
तेरी सुषमा है अनुपमेय है प्राप्त तुझे उच्चता श्रेय॥
जय कला-पुंज हे सौख्य-भूमि।
जय वीरवरों की कर्म-भूमि॥

उनकी आकांक्षा है कि—

मा के मृदुल चरण-कमलों में, अर्पण कर दूँ जीवन-फूल।
सदा चढ़ाऊँ निज मस्तक पर, माँ के पद-पद्मों की धूल॥
नित्य रहे उसका ही चिंतन, करूँ सतत उसका सम्मान।
सहूँ दुखद आघात हर्ष से, कभी न विचलित होवें प्राण॥

जननी-जन्मभूमि के हित में हो जाऊँ सहर्ष बलिदान।
बनकर वीर बालिका मैं भी कर दूँ भारत का उत्थान॥
वीणा की प्रतिध्वनि में मिलकर गाऊँ माँ का गौरव-गान।
रहूँ मातृ-सेवा में तन्मय, चाहे संकट पड़े महान॥

भारत के उपवन की कलियों में मिलकर मैं खिल जाऊँ।
मातृभूमि-रज के कण-कण में हे भगवन् मैं मिल जाऊँ॥
देश-प्रेम का भव्य भाव मेरे मन में विकसित होवे।
मातृभूमि की भक्ति हृदय में मेरे नाथ! उदित होवे॥

राजराजेश्वरी देवी की 'दीपमालिका' भी सुन्दर है; उसके आलोक से हम अपने हृदय को आलोकित कर सकते हैं। वे कहती हैं:—

शीघ्र सँजो दो स्नेह-सिक्त मृदु प्रेम-प्रदीपावलियाँ।
दीप्त हो उठे जग, आलोकित हों जीवन की गलियाँ॥

धुल जावे विषाद-तम हो उल्लासों की रँगरँलियाँ।
स्नेहाभा से प्रभान्विता हो खिलें हृदय की कलियाँ॥
अन्तर्गृह में सत्वर शुचितम, स्नेह-प्रदीप सजा दो।
उस स्वर्गिक-अभिनव प्रकाश से दिव्यालोक जगा दो॥





श्रीमती तारा देवी पांडेय

A. L. J. PRESS, ALLAHABAD

तारादेवी पांडेय  

जिन देवियों ने अभी हाल ही में काव्य-रचना प्रारम्भ करके ख्याति प्राप्त की है उनमें तारादेवी पांडेय का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। आप नैनीताल की निवासिनी हैं। पर्वत-प्रदेश के अनेक सुकवियों ने वर्त्तमान काल में यश और प्रतिष्ठा का अर्जन किया है। ऐसी दशा में यह आश्चर्य की बात होती, यदि वहाँ से हमें एक भी कवयित्री की उपलब्धि न होती। इस देवी से हमें भविष्य में तो बहुत कुछ आशा है, किन्तु इसका वर्त्तमान भी कम आकर्षक नहीं है।

तारादेवी में सौन्दर्य-भावना का मनोहर विकास देखा जाता है। उनकी निम्नलिखित पंक्तियों में पाठक देखेंगे कि सौन्दर्य्य की विभिन्न कल्पनाओं में उन्होंने अपनी वास्तविक भ्रमरी-वृत्ति का कैसा परिचय दिया है :—

(१)

जो कह न सकूँ मैं तुमसे, उसको चित्रित करदोगे?
ओ चित्रकार क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे?
चिर वियोगिनी है आती, पथ पर मोती बरसाती।
तारों के दीप जलाती, कुछ रोती कुछ-कुछ गाती॥
उसके भीगे गालों को, तुम भी क्या देख सकोगे?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे?

निर्जनता होवे मग में, बाला हो अस्थिर चंचल।
हो तेज़ हृदय की धड़कन, हिलता हो जिससे अंचल॥
करुणा की उस चितवन को, पट पर अंकित कर दोगे?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे?

तारों की ज्योति मलिन हो, प्राची नभ उज्ज्वल तर हो।
ऊषा सिन्दूर लगाती हो प्रात मधुर सुखकर हो॥
इस शान्त दृश्य के पावन, कैसे बन्दी कर लोगे?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे?

भोले-भाले से आँसू, तारों की होड़ लगाते।
अपनी उस उज्ज्वलता का, भी दर्शन करवा जाते॥

उसके रहस्यमय जीवन का, भेद मुझे कह दोगे ?
ओ चित्रकार क्या मुझको ऐसी छवि दिखला दोगे ?

फिर बहुत दूर पर धुँधली-सी, छाया एक दिखाना।
वे प्रिय आते ही होंगे, ऐसा कुछ भाव बनाना ॥
उन बड़ी-बड़ी आँखों से, आँसू भी ढलका दोगे ?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?

बस अन्तिम दृश्य बनाना, दोनों का मिलन दिखाना।
उनकी मीठी सिसकी से, तुम कभी सिसक मत जाना ॥
क्या सचमुच ऐसा सुन्दर, यह चित्र पूर्ण कर दोगे ?
ओ चित्रकार, क्या मुझको, ऐसी छवि दिखला दोगे ?

(२)

बिछ जाती जब नील गगन में, मेघों की चादर काली।
छिप जाती तब क्षण-भर ही में, तारों की झिलमिल जाली ॥
लाली फैला जाती नभ में, दिनकर की किरणें भोली।
मानों बिखर पड़ी अंचल में, पूजा की अन्तिम रोली ॥
आसूँ की बूँदें गिरती जब, ले अपना संचित अनुराग
अंकित कर जातीं कपोल पर, अपनी अन्तिम छवि के दाग

महायात्रा का प्रदीप भी, पल भर ही में बुझ जाता।
क्षीण ज्योति में कोई चुपके, अंतिम सुषमा कह जाता॥

अपनी सुकुमार सौन्दर्य-भावना के सहारे उन्होंने नारी सौन्दर्य के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। नीचे की कविताओं में पाठक उन्हें देखें:—

(१)

याचना

खड़ी भिखारिन कब से द्वार!
माँग रही है सुखमय प्यार;
टूटा-फूटा मन का खप्पर,
हाथों में लेकर आयी।

दे दो मुझको वह अमूल्य-धन,
बड़ी आस लेकर आयी,
आज यहा दो मधुमय धार;
लेने आयी केवल प्यार।

जिसे देखकर हँसे चन्द्रमा—
ऐसा प्यार न मैं लूँगी,
घटता-बढ़ता देख उसे प्रभु,
कैसे जीवन रख लूँगी।

तारों-सा झिलमिल संसार;
मुझे चाहिए ऐसा प्यार।

कहीं पहेली-सा रहस्यमय—
बना न देना जीवन-सार;
पूर्ण स्वच्छ हो और निष्कपट,
देव ! हमारा भोला प्यार;
बिना प्रेम के जीवन भार,
दे दो, दे दो अपना प्यार।

(२)

तारे

नील गगन के शुचि प्राङ्गण में, झिलमिल क्यों करते नादान ?
सुनते ही क्या थर-थर मन से, तुम मेरा सकरुण आह्वान ॥
काँपा करते हो या भय से, अपने मन में, हे सुकुमार !
करलें कहीं न नभ पर किञ्चित्, ये आँसू अपना अधिकार ॥
इधर-उधर बिखरा करते हैं, प्रिय भोले-भाले अनजान !
माँ वसुन्धरा की गोदी में, हो जाते हैं अन्तर्धान ॥
तजो वृथा भय की आशङ्का, करो नहीं स्वच्छन्द विहार !
नहीं पहुँच पावेंगे नभ तक, मेरे ये आँसू दो-चार ॥

(३)

सुनो

निर्भय रहने दो, मत छेड़ो इस वीणा के तार।
किसे सुनाओगे तुम इसकी सूनी-सी झंकार ॥

इसका मधुमय गान खोगया उसे ढूँढ़ लेने दो।
विकल वेदना पर ऐ निष्ठुर! मुझे खेल लेने दो॥

सुनो सुनाऊँ तुम्हें आज इस वीणा का इतिहास।
किन्तु प्रतिज्ञा करो, अन्त में मत करना उपहास॥
उपहासों के झोंकों में होती है भीषण ज्वाल।
जला डालती है मेरे भावों की कोमल डाल॥

रजनी देती थी जब अपना झिलमिल वस्त्र पसार।
हँसती थीं तारक-बालाएँ भोला प्रेम निहार॥
आँखें देती थीं उस पर अपना भी सब कुछ वार।
उसी समय वीणा गाती थी मुग्ध गीत दो-चार॥

यही साज था, और अनोखे जीवन की थी चाह।
नई उमंगें थीं सब मन में नूतन था उत्साह॥
हाय, अचानक वीणा टूटी, मिला शून्य में राग।
भोला जीवन शेष रह गया, करने को अनुराग॥

अभिलाषा है सुनने की तो और सुनो एक बार।
लगे हुए हैं इस पर कितने ही आहों के तार॥

उन तारों पर गाया करती हूँ मैं नीरव गान।
नहीं जानती कब होगा इन गीतों का अवसान॥

(२)

बचपन की झलक

इन झिलमिल से तारों की,
जो प्रथम झलक है दिखती।
बस उसी समय में केवल,
शैशव की गाथा लिखती॥
जब भव्य ज्योति शिशु शशि की,
कलियों का चुम्बन करती।
उनकी उस मुस्काहट में,
शिशुओं की हँसी चमकती॥
प्रिय इन्द्र-धनुष की तो हाँ,
मैं मधुर-मधुर छवि लखती।
अपने खोये बचपन का,
क्षण-भर दर्शन हूँ करती॥
ये छोटी-छोटी चिड़ियाँ,
उड़-उड़कर गाना गातीं।
मैं इसमें भी अपनी ही,
शैशव की तान मिलाती॥
फिर मृदुल-बिन्दु शिशु कुंद को,

कोमल सिसकी सुन पाती।
मुझको अपने बचपन की,
वह मीठी याद दिलाती॥
उस बाल्यकाल की स्मृतियाँ,
सुधि सी हैं छाई जाती।
मैं बहुत खोजने पर भी,
बस एक झलक ही पाती॥

(६)

मैं भूली

मैंने पंथ न पहचाना।
सखि, आके धुँधले प्रकाश में अपना ही सब जाना,
प्रभु को भूली, कर्तव भूली,
बुद्धि विवेक सभी मैं भूली।
माया मोह नहीं एक भूली,
बन्धन ही में फूली।
मैं हूँ कौन ? कहाँ से आई ?
इस पर मैंने नहीं विचारा।
झूठे जग में केवल अपना,
ममता का ही पारा पसारा।
यह मेरा है, यह मेरा है,
इस भ्रम में ही अब तक फूली,

. . सच्चा पंथ बता दो आली,
अपने को भी जाती भूली।

अपने मतवाले वनमाली के अन्वेषण में रत तारादेवीजी की नायिका कहती हैं :—

झिलमिल दीप जला तारों के, नभ में कर दी दीवाली;
उसी ज्योति में चली ढूँढ़ने, भर के आँसू की थाली।
छाया थी मधुवन की सुन्दर, हरी दूब की हरियाली;
मुग्ध दृष्टि से निरख रहा था, मतवाला हो वनमाली।

❀ ❀ ❀

खोज रही थी वन उपवन में, हटा-हटाकर अँधियाली;
पूछ रही थी, नीरव मन से, अरे, बता दो उजियाली।
हृदय टटोला, देखा क्या, हा! वीणा थी पर तार नहीं;
मँडराया था राग, किन्तु अब, पहली-सी झनकार नहीं।

❀ ❀ ❀

छिन्न हृदय-तंत्री को लेकर, मैं सूने पथ पर आयी;
देखा संस्कृति चितवन से सब, उदासीनता है छायी।
सूने पथ में विचर रही हूँ, ढूँढ़ रही अतीत की धूल;
उस अतीत की सुमधुर स्मृति में, काँटे भी लगते हैं फूल।

प्रियतम के प्रति इस नायिका के जो उद्गार तारादेवीजी की लेखनी द्वारा व्यक्त हुए हैं उनमें मार्मिकता है। पाठक इन भावों का रसास्वादन करें :—

'उनके' ही चरणों में रहकर उनकी ही कहलाऊँगी।
'उनके' प्रति जो प्रेम-भाव है उसको मैं दरसाऊँगी॥
'उनके' पूजन की भी विधि मैं अपने आप बनाऊँगी।
अपनी पल हृतंत्री के मैं तारों को झनकाऊँगी॥

अपने ही मन-मानस से मैं प्रेम-सलिल भर लाऊँगी।
गंगा-जमुना नीर बिना ही अर्घ्य अमोल सजाऊँगी॥
हृदय-कुंज के सुन्दर सुरभित भाव कुसुम चुन लाऊँगी।
बड़े प्रेम से 'उन्हें' चढ़ाकर अपना प्रेम निभाऊँगी॥

द्रव्य-भेंट के बदले तो मैं स्वयं भेंट चढ़ जाऊँगी।
इसी तरह की पूजा करके 'उनका' मान बढ़ाऊँगी॥
अपने निर्मल मानस का मैं 'उनको' हंस बनाऊँगी।
भाँति-भाँति के कौतुक करके 'उनका' चित्त चुराऊँगी॥

उनके ही दरवाज़े अब मैं भीख माँगने जाऊँगी।
सम्मुख जाकर उच्च स्वर से प्रेम-पुकार लगाऊँगी॥
प्रेम-अश्रु-मुक्ताओं का मैं सुन्दर हार बनाऊँगी।
भक्ति-भाव से, सरल स्नेह से 'उनको' ही पहनाऊँगी॥

तारादेवी जी की निम्नलिखित पंक्तियों में उनका जो विषाद-ग्रस्त तथा भावकतापूर्ण स्वरूप अंकित हुआ है वह भी हृदय-स्पर्शी है:—

आज अचानक मुझे आ गयी, अपनी प्रिय माता की याद।
निकल पड़े मेरी आँखों से, अविरल आँसू उसके बाद॥
मानो कोई यह कहता हो, अब न मिलेगी प्यारी माता।
इसी लिए तो आज मुझे अब, और नहीं है कुछ भी भाता॥

वह होती इस समय यहाँ, तो करती मेरा बहुत दुलार।
मैं थी उसकी सुता लाड़िली, हाय लुट गया मेरा प्यार॥
मैया! जब से होश सँभाला, देख नहीं मैं पायी तुझको।
मन में उठता प्रश्न यही है, छोड़ दिया क्यों तूने मुझको॥

सुनती हूँ जब शब्द किसी के, मुख से मैं मेरी प्रिय माता।
प्यारी माता कहने को हा! मेरा भी है जी ललचाता॥
क्या अपराध किया था मैंने, त्याग दिया जो तूने मुझको।
सोच तनिक तो अपने मन में; यही उचित क्या था माँ, तुझको॥

त्याग किया जब मेरा तूने, तनिक न आया था क्या ख्याल।
हाय, सोच क्यों लिया न मन में, होवेगा क्या इसका हाल॥
यद्यपि पितृ-पदों का मुझको, मिला यथोचित शुद्ध सनेह।
विना मातृ ममता के वह भी, उतना नहीं मोद का गेह॥

मन में सोचो, मुझे छोड़कर, हाथ तुम्हारे क्या आया।
जननी होकर, जनकर मुझको, क्यों नाहक ही तलफाया॥
माता होती तो क्या होता, यह अभिलाषा रहती है।
मन कहता है, वृथा हाय! क्यों, इस प्रकार दुख सहती है॥

हा ! हा ! कितने प्यारे बच्चे, मातृ-स्नेह से वंचित होंगे।
होंगे जो अज्ञात उन्हें तो, दुख ही सारे संचित होंगे॥
जिनको होगा ज्ञान ज़रा भी, पाते क्लेश दुखी वे होंगे।
करते होंगे याद निरंतर, समझ-समझकर रोते होंगे॥

यद्यपि 'मा' के सुख से वंचित, और न माता का है ध्यान।
तो भी यही लालसा मन में वारूँ उस पर तन मन प्रान॥
नहीं तुम्हें मैंने देखा है, देखा चित्र तुम्हारा है।
इसी लिए तो आज बह रही, सतत स्नेह की धारा है॥

मन में उमड़े स्रोत प्रेम का, कभी न मुख से प्रकट कहे।
प्रेम उसी को कहते हैं जो, बसे दूर या निकट रहे॥
जो कुछ अनुचित बातें कह दीं, उन्हें ध्यान में मत लाना।
कभी-कभी हे अंब ! स्वप्न में, अपने दर्शन दे जाना॥

कवित्त्व-शक्तिसम्पन्न होने पर भी इस देवी ने जीवन में आनन्द और सुख नहीं पाया। दो ही तीन वर्ष की अवस्था में इनकी माता का स्वर्गवास हो गया। पाठकों ने ऊपर श्रीमती तारा देवी की कुछ पंक्तियों में माता के अभाव से उत्पन्न वेदना देखी है। यह वेदना कल्पना-जनित नहीं, दैनिक जीवन की अनुभूत वेदना है।

खेद है, इस होनहार, प्रतिभाशालिनी और भावुक कवयित्री का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। नैनीताल के सुयोग्य डाक्टर श्रीयुत्

पुरुषोत्तम पांडेय एम्० बी० बी० एस् आप के पति हैं, फिर भी अस्वस्थता के कारण आप का विवाहित जीवन सुखमय नहीं हो सका। वर्त्तमान समय में भुआली के सैनेटोरियम में आपकी चिकित्सा हो रही है। ईश्वर आप को स्वस्थ और दीर्घायु करें।



रामेश्वरी देवी गोयल 

कुमारी रामेश्वरी देवी गोयल का जन्म ११ फरवरी सन् १९११ में झाँसी में हुआ था। आपने सन् १९३२ में प्रयाग विश्व-विद्यालय से एम० ए० की परीक्षा पास की। वर्त्तमान समय में ये स्थानीय आर्य्य कन्या-पाठशाला की प्रधान अध्यापिका हैं। आप की उच्च शिक्षा और आपके उन्नत, परिमार्जित राष्ट्रीय विचार अधिकांश में आपकी सुयोग्य माता ही के प्रयत्नों के परिमाण-स्वरूप हैं। आपका समय पठन-पाठन, काव्य तथा संगीत की आराधना ही में व्यतीत होता है। अभी तक आपने अपनी कविताओं का कोई संग्रह नहीं प्रकाशित कराया है, इसका कारण शायद यही हो कि गत वर्ष तक आप छात्रावस्था ही में थीं। आशा है, निकट भविष्य में काव्य की ओर आपकी विशेष प्रगति का परिचय पाठकों को देने का अवसर हमें मिलेगा।



कुमारी रामेश्वरी देवी गोयल

A. L. J. PRESS, ALLAHABAD

कुमारी गोयल ने अपनी पंक्तियों में नायिका और नायक के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं उनमें मनोहरता है । उनकी नायिका कहती है :—

किया था जिसे हृदय से प्यार,
अनूपम था मेरा अनुराग ।
छिपा उर के पट में चुपचाप,
लिया—अपना जब उसको हाय !

निकालूँ कैसे घर से द्वार ?
आज निज भावों का शृंगार ।
वही थी एक निराली साध,
भावनाओं का सुफलागार ।

वही था गर्व, वही मद-राग,
वही था पीड़ा का उपहार ।
भुला दूँ कैसी उसकी याद ?
गिने थे तारे सारी रात ।

× × ×

ढुलकते आँसू का प्रतिबिम्ब,
देख विचलित मत होना आज;
बहा देगा अपने ही साथ—
तुम्हारे वैभव का सुख-स्वाद ।

याद रखना मेरे उद्भ्रान्त—
प्यार का, जीवन का इतिहास।
इन्हीं में सरस दिनों की छाप,
हाय! रोने में बदला हास्य।

नहीं हैं आँसू, मेरे, नाथ!
व्यथाओं की माला का ढेर।
आज टूटा है मेरा स्वप्न,
न हो जाऊँ निर्धन, मैं आह!

\+ + +

तुम्हारी संजीवन मुस्कान, जगा देती मद का संसार।
पुलक, भावुक, नभ भी अनजान, लुटा देता अपना शृंगार॥
लुभा लेता तटस्थ के प्राण, बिछा मायावी मुक्ता-जाल।
बना देता पागल-सा कौन, व्यथा की अविकल मदिरा ढाल॥
अमित कलियों का कोमल गान, ढूँढ़ता व्याकुल हो विश्राम।
सुला लेता सुधांशु निज अङ्क, बिछाकर शीतलता अभिराम॥

❦ ❦ ❦

तुम्हारा भोला सा उपहास,
भेद जाता जब तन मन प्राण;
अधर की रिमती सी मुस्कान,
नयन छलका देते नादान।

अरे अनजान प्रेम का मोल
मधुरिमा मय विकसित अनुराग;
समझ, सौंपा सर्वस, सुकुमार,
आह! पीड़ा दी किसने घोल?

समझकर किसने उसे ठठोल?
किया विच्छिन्न दीन निर्माल्य;
अरे उस प्रेमी की उद्भ्रान्त—
'चाह की आह' हाय! दी खोल!

राग से सीखा आज विराग,
हास्य का मृदु अवगुण्ठन डाल।
वेदना सिसक-सिसककर हाय,
न जर्जर कर दे यह अभिसार!

गूँज जावे सब यह परिहास,
पिघल जल सो जावे विश्वास।
कहीं पा फिर तेरा आभास,
न उठ जावे यह लजक ललाम।

कुमारी गोयल की नायिका में विचित्र भाव-मग्नता और पीड़ा है। अपने वेदना-रहस्य से परिचय प्राप्त करने के इच्छुक से उसका कहना है:--

सुनने की उत्कंठा क्यों, पीड़ा की करुण कहानी।
पीछे से पछताओगे, कैसी थी यह नादानी॥

भोले ऐ पथिक ! न तोड़ो, मेरे जीवन की लड़ियाँ।
उलझी ही रहने दो अब, दुखिया जीवन की घड़ियाँ॥
उन आँसू की झड़ियों को, संचित यदि अब कर पाऊँ।
एक-एक बूँद में मैं तब, तुमको वह चित्र दिखाऊँ॥
मेरे जीवन-दीपक का, हो चला तेल खाली अब।
उनसे कहना तुम जाकर, ले आओ निज थाती अब॥

❀ ❀ ❀

बलि दे चाहों की निष्ठुर ! आशा की आहुति देकर।
कोमल कलिका को कुचला, तेरी निर्दयता लेकर॥
उर की बढ़ती लपटों को, चाहा कर मैं ले बाँधूँ।
थोड़े से अश्रु पिन्हा के, नयनों में जीवन साधूँ॥

नीचे की पंक्तियों में कवि ने नायिका के भग्न हृदय का विषाद-पूर्ण चित्र अंकित किया है:—

झिलमिल करते थे तारे, आशा के सूने नभ में।
मलयानिल-सी निश्वासें, उठती थीं अंतस्तल में॥
उर की निरंतर पीड़ा ने, सोता उन्माद जगाया।
अपने कंपित हाथों से, वीणा को आन उठाया॥
हाँ, तार सभी उसमें थे, निर्दय ! तूने क्यों तोड़ा ?
ज्यों-त्यों मैंने फिर उसको, कर यत्न बहुत, था जोड़ा॥
उन आँखों की मदिरा से—भरकर घवशात कटोरा।
होठों तक ही लाई थी, तूने आ क्यों झकझोरा ?

बजती कैसे अब वीणा ? टूटी ध्वनि निकली उससे,
हो खिन्न, दिया मैंने भी—रख दूर उसे निज कर से।
वह जीवन का जीवन थी, प्रतिध्वनि करती थी निशदिन,
बैठा रोता है अब तो यह भग्नहृदय उसके बिन !!

नायिका के हृदय में सूनापन है। वह डरती है कि कहीं उसकी 'चिर साथिन' बनने के लिए आने वाली वेदना इस सूनेपन के भय से चली न जाय—

डाला है तुमने आसन, पीड़े! यदि मेरे उर में।
हो दिखलाती निज सूरत, मुझको नित अश्रु-मुकुर में॥
स्वागत करती हूँ तेरा, देती आशीष हृदय से।
पर छोड़ कहीं मत जाना, इस सूनेपन के भय से॥
क्या बनती हो चिर साथिन, मेरा सौभाग्य बड़ा है।
जीवन तुम ही पर मेरा, बलि होने को मचला है॥
सुख आया था इस गृह में, पलमें भागा वह रोकर।
धन दे डाला सब अपना, आँखों की लड़ियाँ पोकर॥
कैसा वह हर्ष अहा था, कल्पनावशेष बची है।
उन्माद वेदना की ही, अबतो बस धूम मची है॥
तुम पीड़ित हो चल दोगी, मुझको बस छोड़ अकेला।
रोती ही रह जाऊँगी, स्वप्नों से उठती बेला॥

निराशा के घने अंधकार में यह नायिका आशा की ज्योति के लिए लालायित होकर कहती है:—

भोले ऐ पथिक ! न तोड़ो, मेरे जीवन की लड़ियाँ।
उलझी ही रहने दो अब, दुखिया जीवन की घड़ियाँ ॥
उन आँसू की झड़ियों को, संचित यदि अब कर पाऊँ।
एक-एक बूँद में मैं तब, तुमको वह चित्र दिखाऊँ ॥
मेरे जीवन-दीपक का, हो चला तेल खाली अब।
उनसे कहना तुम जाकर, ले आओ निज थाती अब ॥

卐 卐 卐

बलि दे चाहों की निष्ठुर ! आशा की आहुति देकर।
कोमल कलिका को कुचला, तेरी निर्दयता लेकर ॥
उर की बढ़ती लपटों को, चाहा कर मैं ले बाँधूँ।
थोड़े से अश्रु पिन्हा के, नयनों में जीवन साधूँ॥

नीचे की पंक्तियों में कवि ने नायिका के भग्न हृदय का विषाद-पूर्ण चित्र अंकित किया है:—

झिलमिल करते थे तारे, आशा के सूने नभ में।
मलयानिल-सी निश्वासें, उठती थीं अंतस्तल में ॥
उर की निरंत पीड़ा ने, सोता उन्माद जगाया।
अपने कंपित हाथों से, वीणा को थाम उठाया ॥
हाँ, तार सभी उसमें थे, निर्दय ! तूने क्यों तोड़ा ?
ज्यों-त्यों मैंने फिर उसको, कर यत्न बहुत, था जोड़ा ॥
उन यौवन की मदिरा से—भरभर अवशान कटोरा।
होंठों तक ही लाई थी, तूने आ क्यों झकझोरा ?

बजती कैसे अब वीणा ? टूटी ध्वनि निकली उससे,
हो खिन्न, दिया मैंने भी—रख दूर उसे निज कर से।
वह जीवन का जीवन थी, प्रतिध्वनि करती थी निशदिन,
बैठा रोता है अब तो यह भग्नहृदय उसके बिन !!

नायिका के हृदय में सूनापन है। वह डरती है कि कहीं उसकी 'चिर साथिन' बनने के लिए आने वाली वेदना इस सूनेपन के भय से चली न जाय—

डाला है तुमने आसन, पीड़े ! यदि मेरे उर में।
हो दिखलाती निज सूरत, मुझको नित अश्रु-मुकुर में॥
स्वागत करती हूँ तेरा, देती आशीष हृदय से।
पर छोड़ कहीं मत जाना, इस सूनेपन के भय से॥
क्या बनती हो चिर साथिन, मेरा सौभाग्य बड़ा है।
जीवन तुम ही पर मेरा, बलि होने को मचला है॥
सुख आया था इस गृह में, पलमें भागा वह रोकर।
धन दे डाला सब अपना, आँखों की लड़ियाँ पोकर॥
कैसा यह हर्ष अहा था, कल्पनावशेष बची है।
उन्माद वेदना की ही, अबतो बस धूम मची है॥
तुम पीड़ित हो चल दोगी, मुझको बस छोड़ अकेला।
रोती ही रह जाऊँगी, स्वप्नों से उठती बेला॥

निराशा के घने अंधकार में यह नायिका आशा की ज्योति के लिए लालायित होकर कहती है:—

अभागे की आशा-उद्दन्त, पिघलते ओसों के-से बिन्दु।
न कर उपहास निठुर उद्दन्त, राग ही तो मम जीवन-इन्दु॥
निराशा की विकसित मुसकान! न कर मेरी आशा का अन्त।
स्मृति-ही जीवन का आधार! नयन में रहता श्रोत अनन्त॥
निराशा मम आशा की ज्योति! देखने को तेरी इक रेख।
छिपाती है मानस के बीच! बीचि में लुप्त न होना देख॥

कुमारी गोयल ने *निम्नलिखित पंक्तियों में अपनी नायिका* के जिस रूप का अंकन किया हैं, वह भी हृदयस्पर्शी है।

.........निराली साध!

विकल मानस का अविचल राग,
अरी मतवाली!
देव दुर्लभ अभिलाष—
विषम उपहास;
नहीं वह पीड़ा से ख़ाली।

.... निपट अनजान!

वृथा, मत करना अभिमान,
अरी अचिन्तित!
हृदय बन जायेगा श्मशान,
छोड़ दे आन!
न खो जाये निधि संचित!

………सुनहला प्यार—

मधुरतम जीवन यह, कटुभार—
बनेगा, भोली !
नवल विकसित कलियों के साथ,
हृदय कर क्षार
जलेगी प्राणों की होली"

× × × ×

………साधन मृदुल

अचल है जीवन का संकल्प
लालसा भारी
किन्तु ठुकराना मत वह क्षार,
प्यार का सार,
अरे, निष्ठुर व्यापारी !

कुमारी गोयल की कविता में उक्त वेदना के अतिरिक्त कहीं-कहीं देश-प्रेम के भाव भी हैं । शक्ति का आवाहन करती हुई वे कहती हैं:—

आशा-हीन दलित पड़े जो दीन भूतल में,
जीवन की ज्योति नव्य उनमें जगाती तू ।
शोक-नत भारत के भव्य भाल को समोद,
शान्ति का पद्म के पाठ धीरे से उठाती तू ।

त्याग का बनाके मंत्र, धैर्य का सिखा के तंत्र,
देशवासियों को आज योगी है बनाती तू।
देकर सुबुद्धि 'शक्ति' भव्य भारतीयता की,
विजय-पताका देवि ! आज फहराती तू।





श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु'

विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु'

श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मंजु' का जन्म एक प्रतिष्ठित कायस्थ-परिवार में ४ अगस्त, सन् १९०३ ई० में हुआ था। प्रतिकूल परिस्थितियों से घिरी होने पर भी आपने अपने विद्या-प्रेम के द्वारा हिन्दी में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। आप पद्य और गद्य दोनों लिखने की क्षमता रखती हैं। पारिवारिक विपत्तियों ने आपके हृदय को बड़ी ठेस पहुँचाई है। आप की कविताओं पर भी आपकी वेदना की गहरी छाप है। आपने अपनी भावुकता के रंग से जिन नायक-नायिका-चित्रों में रंग भरा है, उनमें संतोषजनक माधुर्य है।

एक निराश नारी का चित्रण देखिए:—

आशा के भग्न भवन में, प्राणों का दीप जलाये।
उत्सुक हो स्वागत-पथ पर, बैठी थी ध्यान लगाये॥

उठती तरङ्ग-माला में, शरदिन्दु-किरण फँसती थी।
हिलती, मिलती, इठलाती, पगली सरिता हँसती थी॥
थे नील गगन में तारे, मुक्ता का तार पिरोते।
मेरी सूनी कुटिया में, आँखों से झरते सोते॥
है स्नेह-सिन्धु उफनाता, जर्जर है तरणी मेरी।
क्या कभी लगेगी तट पर, जब छाई रात अँधेरी॥
प्रियतम ! क्या भूल सकूँगी, सूनेपन में तुम आये।
सुरभित पराग को लेकर, कलियों के दल बिखराये॥

किसी विचित्र गायक से श्रीमती जी का कथन है:—

गायक कौन राग है गाया ?
टूटी वीणा के तारों को फिर से आज मिलाया।
तन मन प्राण सभी व्याकुल है, कैसा स्वर लहराया ?
गायक यह क्या-स्वर लहराया ?
टूटे बन्धन, पिया हलाहल, सूखा तरु हरियाया।
छूट रहा जग, भूला जीवन, यों उन्मत्त बनाया॥
गायक कैसा स्वर-लहराया ?
यौवन के वे सुख सपने थे सपने हों या छाया ?
नव वीणा थी मृदु कम्पन में, झट पट राग बजाया।
गायक कौन राग था गाया ?
जला दीप वह मुझ पंतग का, जिसको आज जगाया ?
बुझा नहीं, जल, जल, बुझने दे, आया समय, सुनाया !

गायक कैसा राग बजाया ?
लुटे विश्व में, अन्धकार है, शोक-सिन्धु उफनाया।
डाँड़ पकड़ ले, पार लगादे, जीवन-पोत घुमाया।
गायक आज राग क्या गाया ?
एक सार है, पुनः मिलन है, सोती व्यथा, उठाया !
हृदय तार पर करुण राग में, कौन गीत है गाया ?
गायक हाय आज क्या गाया ?
सदा तुम्हारे, रहे तुम्हारे, नाथ नहीं, क्या पाया ?
छोड़ो नहीं, देव ! आती हूँ, कहो, नहीं हूँ छाया।
हा ! क्यों कहते, थी छाया।
गायक कहो नहीं थी छाया ॥

श्रीमती 'मंजु' की निम्नलिखित पंक्तियों में देश की दशा के प्रति व्याकुल उद्‌गार भी देखने योग्य हैं:—

आह ! आज कितनी सदियों पर, आई हो माँ ! इस कुटीर में।
बोलो तुम्हें अर्घ्य दूँ कैसा ? उड़े विभव कण-कण समीर में ॥
क्यों माँ ! कैसे भूल सकी थी, विजित आर्य-सन्तानों को।
अरी निष्ठुरे ! निर्मल होकर मसल दिया अरमानों को ॥
भूत-भव्यता आर्य-भूमि की, अरी शक्तिदा ! भूल गई क्यों।
समर-रंगिणी ! नष्ट-तेज क्यों ? विश्व-वीरता लुप्त हुई क्यों ॥
ओ माँ ! जब तुम मिल प्रताप से, आई थीं हँसकर प्रभाव में।
चमक गिरी असि तड़ित माल सी, गगन भाल से शत्रु-गीत में ॥

वे दिन हाय ! हुए सपने से, हुई निधन हम हन्त त्रास में।
विगत शक्ति क्या आ न सकेगी, पुनः हमारे चन्द्रहास में ?

श्रीमती जी से साहित्य के क्षेत्र में हमें बहुत कुछ आशा है। हमें पूर्ण विश्वास है कि जैसे वे अपनी अनेक बाधक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करके साहित्याराधना की ओर अग्रसर हुई हैं, वैसे ही अपनी अन्य समकक्ष बहनों की कठिनाइयों के निराकरण में उद्योगशील होकर, वे इस एक अन्य मार्ग से भी, हिन्दी-साहित्य की सेवा कर सकेंगी।





श्रीमती रत्नकुँवरि देवी

रत्नकुँवरि देवी





मध्यप्रान्त के रत्न, जबलपुर-निवासी श्रीमान् सेठ गोविन्ददासजी ने अपने प्रदेश में हिन्दी का प्रचार करने में यथेष्ट भाग लिया है। उन्होंने 'बाणासुर पराभव' नाम का एक प्रबंधकाव्य, अनेक वर्ष हुए, लिखा था। खेद है, अन्य कार्यों में व्यस्त हो जाने के कारण सेठजी काव्य-रचना की ओर से उदासीन हो चले। ऐसी अवस्था में यह संतोष की बात है कि उनकी सुयोग्य पुत्री श्रीमती रत्नकुँवरि देवी ने अपने पिता का स्थान लेकर उनकी लेखनी की निष्क्रियता से होनेवाले अभाव की पूर्ति का उद्योग करना आरम्भ कर दिया है।

श्रीमती रत्नकुँवरि अल्पवय ही में संस्कृत की काव्यतीर्थ परीक्षा में पारंगत हुईं। थोड़े ही समय से उन्होंने काव्य-रचना का श्रीगणेश किया है। उनमें कवि-प्रतिभा विद्यमान है और यदि वे

इस क्षेत्र में निरन्तर संलग्न रहेंगी तो, आशा है, कुछ स्थायी महत्व का कार्य्य भी कर सकेंगी।

श्रीरत्नकुवँरि द्वारा अंकित विप्रलब्धा नायिका का चित्र देखिए:—

जीवन के उस उषाकाल में, फैला था जब नव आलोक।
मुग्ध हुई मैं मधुमय तेरा, मुखड़ा भोला सा अवलोक॥
प्रबल मोह ने बना दिया था, हाय! मुझे इतनी अनजान।
पहिले पात्र-परख की जाती, पीछे उचित उसे है दान॥
विस्मृत कर इस उचित नीति को, झट अपनी मणि-राशि समेट,
तेरे रुचिर चरण कमलों में—बिखरायी मैंने यह भेंट—
पर यह क्या हुआ अचानक—तेरे मुख का कैसा रंग?
वह माधुर्य और भोलापन—क्या ये केवल कृत्रिम ढंग?
निठुर! रूप धारणकर! तूने उन्हें ज़ोर से ठुकराया।
उछल गिरीं वे मणियाँ सारी, जिन्हें नहीं फिर लख पाया॥
हाय!—कि तब धोखा दे तूने, किया मुझे सर्वस्व-विहीन।
क्या इस दुनियाँ में कोई है मुझ-सी अबला सरला दीन॥

इस देवी में प्रकृति के प्रति अनुराग की सूचक निम्नलिखित पंक्तियाँ आकर्षक हैं:—

ईश! अब तो श्रान्त ये पद-प्रान्त हैं;
लगन से विजड़ित बने क्रम क्रान्त हैं।

किन्तु करना पार हे गिरि ! है तुझे,
क्या करूँ ? कह दीर्घकाय ! बता मुझे ॥

भीम भारी रुक्ष कृष्ण कड़े-कड़े,
उपल तेरे अङ्ग पर अगणित पड़े ।
है कहीं प्राचीर-सी तरु-श्रेणियाँ,
झाँड़ियाँ हैं गुथ गई ज्यों वेणियाँ ॥

कहीं कंटक कीर्ण गर्त बड़े-बड़े,
विविध वन के हिंस्र जन्तु कहीं खड़े ।
सामने ही यह दरी तेरी पड़ी;
क्या यहाँ देखूँ ज़रा होकर खड़ी ?

हृदय तो तेरा अहो ! पय से भरा,
आर्द्र शीतल है यहाँ की तो धरा ।
नील नीरज नेत्रद्वय सरसा रहे ।
अलि मृदुल गुंजन श्रवण-सुख पा रहे ॥

नीर भर मन्थर समीरण घूमकर,
कमलिनी के पार्श्व से आ झूमकर ।
श्रान्ति मेरी साथ में ले जा रहा,
शक्ति नव इस अङ्ग में है ला रहा ॥

मधु मिले से मिष्ट पय का पानकर,
सुधा के सम सारगर्भित जानकर ।
सकेंगे चल चरण द्विगुणित चाल में,
तब अतिक्रम अब सरल कुछ काल में ॥

वाह्य आकृति तो भयावह गिर अहो !
किन्तु तव अन्तर सरस कैसे कहो ?
धन्य हैं वे दृढ़व्रती प्रण में अटल।
नेत्र जिनके स्नेह से रहते सजल !

निम्नलिखित कविता में रत्नकुँवरिजी की मौलिकता की झलक मिलती है:—

न कलंक बने

रवि-रश्मि-जनित गुरुताप तपे
पथ दुर्गम पर चल श्रान्त हुआ;
मुख म्लान शिशिरहत पंकज-सा
तव कण्ठ तृषातुर क्लान्त हुआ।

छल-छलकर छलक रहा रस-स्रोत
प्रतिक्षण नूतन स्वाद लहे;
यह मोहक मानस-पूर्ण पड़ा
रसपान करो, पर याद रहे—

तव धूलभरे पद, पथिक, नहीं
इस निर्मलता के अंक सने;
बन पंक धूल इन चरणों की,
इस मानस का न कलंक बने।



लीलावती भँवर 'सत्य'

कुमारी लीलावती भँवर ने सन् १९३१ ई० में हिन्दू-विश्व-विद्यालय से एम० ए० पास करने के बाद साहित्य-सेवा के क्षेत्र में पदार्पण किया है। आप देहरादून की महादेवी-कन्या-पाठशाला में अध्यापिका हैं।

लीलावतीजी के नारी-चित्रों में माधुर्य है। उनकी नायिका अपने प्रियतम से कहती है:—

प्राणों के दीप जलाये, कब से पथ हेर रही हूँ;
भावों के सुमन मनोहर सब आज बिखेर रही हूँ।
श्वासों की धूप बनाकर जीवन नैवेद्य बनाया;
तव चरणों की पूजा को मैंने है साज सजाया।
आओ, चिर-संचित मेरी यह साध पूर्ण होने दो;
निज पद-रज में हे प्रियतम ! अपना मन खोने दो।

× × ×

फुलवारी में मैं आई, लख उषा का मुसकाना;
फिर देखा ओस-बिन्दु मिस पुष्पों का अश्रु गिराना।
नर्तन लख मुग्ध शिखी का मैंने नभ ओर निहारा;
निष्प्रभ नीरद-बाला के नयनों से छुटा छुहारा।
नभ छाना, पृथ्वी खोजी, पर चिन्ह न कुछ भी पाया,
हा! आज बिलखती-रोती मेरी आशा की छाया।
कर चूर्ण सभी अभिलाषा ये प्राण उन्हें ध्यावेंगे;
दूँगी अस्तित्व मिटा निज, फिर देव स्वयं आवेंगे।

जग के झूठे वैभव को, लेकर क्या नाथ करूँगी मैं।
कुम्हलाये आशा-कुसुमों से, पुनः न अङ्क भरूँगी मैं॥
रोम-रोम में रमो तुम्हीं नित-नाम तुम्हारा ही गाऊँ।
इच्छा है बस यही, तुम्हारे-चरणों की रज बन जाऊँ॥

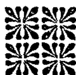
देकर दर्शन चाहे प्रियवर, तुम हमको कृतकृत्य करो।
अथवा रहकर दूर-दूर ही, नित्य हृदय को व्यथित करो॥
इच्छा हो तो जीभरकर तुम, नित मेरा अपमान करो।
अथवा होकर सदय प्रेममय, प्रकट मधुर मुसकान करो॥
दुख देने में सुखी रहो यदि, तो तुम नित नव दुख देना।
किन्तु न स्वत्व हमारा तुम यह, हमसे कभी छीन लेना॥
होगा म्लान नहीं मुख मेरा, चाहे जो व्यवहार रहे।
रक्खूँगी मैं मनमन्दिर में, पूजा का अधिकार रहे॥

निम्नलिखित पंक्तियों में लीलावतीजी के जिस संकल्प की सूचना मिलती है, वह सराहनीय है:—

जग के इन सुख-स्वप्नों की है,
कुछ भी मुझको चाह नहीं।
आज विदा मायाविनि आशे,
उर में तेरी राह नहीं।

विपुल विघ्न बाधाएँ आएँ,
फूल-सदृश स्वागत होगा।
समय पड़े पर फाँसी का भी,
हँस-हँस आलिंगन होगा।

माता के प्रिय पद-पद्मों पर,
जीवन का यह सुरभित फूल।
आज समर्पण करने को,
आयी हूँ अपनी सुध-बुध भूल।



अवशेष

जिन देवियों की काव्य-रचना की चर्चा की जा चुकी है उनके अतिरिक्त कुछ और भी हैं जो इस क्षेत्र में प्रवेश कर रही हैं और जिनसे, निकट भविष्य में, बहुत कुछ आशाएँ हैं। इनमें श्रीकमलाकुमारी, श्रीचन्द्रकला, श्रीमती सुन्दरकुमारी, श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' और कुमारी शान्तिदेवी का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। इनकी रचनाएँ 'हंस,' 'सरस्वती, 'चाँद' आदि मासिक-पत्रों में प्रकाशित हुआ करती हैं। पाठकों के अवलोकनार्थ इनकी कृतियों का एक-एक नमूना यहाँ दिया जाता है:—

[१]

आंसू

नयन-कमल के मञ्जुल मोती,
भग्न हृदय के मृदु-उद्गार;

नील-कमल में तुहिन-बिन्दुसे,
नयनों के प्रिय मुक्ता-हार
ढलकते गालों पर दिन-रात,
लिये नव-पीड़ा का आधार;
चढ़ाते प्रियतम-हित अज्ञात,
गूंथकर अश्रु-कणों का हार,
उमड़ पड़ता है हृदयोद्गार,
उसाँसे और दीर्घ निश्वास;
सजल आँखों में मेघाकार;
बरसते हैं घन सुरसरिधार।
हृदय में करता मृदु-आघात,
प्रणय का वह प्यारा मधुमास;
नहीं लख पड़ता सजल प्रभात,
वेदना का रहता है वास।
हमारे मूक रुदन का सार,
समझता है क्या जड़ संसार;
आसुओं का यह सुरभित हार,
चढ़ाती हूँ 'भू' को उपहार;
विरह में कैसी दाहक आग,
और स्मृति में मादक अनुराग;
हुआ जगती से विषम विराग,
हृदय में रही वेदना जाग।

यही मेरी अंतिम अभिलाष
कि इन नयनों के मुक्ताहार;
चढ़ा प्रिय पद-पद्मों पर आज,
मिले मुझको भी जीवन-सार,

—कमलाकुमारी

[२]

लङ्कादहन

एक ओर ज्वाला जब पूँछ में लगाई गई,
अन्य ओर दानवों की छाती आप दरकी।
कूद के धरा से कपि जा रहा अटा पै एक,
दूसरी अटा की छटा साथ छोड़ सरकी।
अपना-बिराना-ज्ञान पल में विलीन हुआ,
सूझती किसी को थी न याद की, न घर की।
लपकी लपाक से लपक हव्यवाहन की,
धमकी धमक से सुलङ्क चामीकरकी॥

—चन्द्रकला

[३]

उत्कण्ठिता

सब तुमसे विहँस रहे हैं—मैं नहीं बोलने पाती।
मेरी ये प्यासी आँखें—हैं तरस-तरस रह जाती॥
मैं धरा चुकी चरणों पर—संचित सुमनों की डाली।

मृग-जल पल-पल मुझे छल रहा;
धरा सहित आकाश बल रहा;
तन-मन-दाहक अनल जल रहा;
सन सन सन सन पवन चल रहा;
सूरज की तीखी किरणों से अधिक उष्ण उच्छ्वास।
प्रात: से यात्रा पर चल दी;
भूल गई पथ चलती चलती;
निर्जन वन में फिरी भटकती;
आई शान्त-सिन्धु-तट तपती;
रे भविष्य की भ्रान्ति ! छेड़ मत, ले लेने दे [illegible]

—[illegible]

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि [illegible] काधिक संख्या में काव्य-रचना की ओर [illegible] ऐसी अवस्था में हम उनकी सेवा [illegible] आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

उत्तर है— नहीं। इनकी पंक्तियों में काव्य-कला का जो थोड़ा-बहुत विकास देखा जाता है वह मानवहृदय को मोहित करने की शक्ति भले ही रखता हो, किन्तु उसमें व्यक्तित्व को विकसित करने का सामर्थ्य नहीं है।

हिन्दी-साहित्य का वर्तमान काल हिन्दी-काव्य का उन्नत स्वरूप हमारे सम्मुख नहीं रखता; उसमें जिन भावों की अवतारणा की जा रही है उनमें अधिकांश में शक्ति का अभाव है और चित्त में विरक्ति उत्पन्न करनेवाली ऐसी सारहीन भावुकता है जो न किसी व्यक्ति का उपकार कर सकती है और न किसी समाज का। देवियों का इस काव्य-प्रवाह के अनुसरण से भी विशेष लाभ न होगा, और अधिक आशंका तो इस बात की है कि उनकी हानि होगी।

हमारा अनुरोध है कि देवियाँ काव्य-रचना में नायक-नायिका के चित्रों के अंकन में विवेक से काम लें। दुर्बल शिशुओं की उत्पत्ति जैसे भौतिक जगत् में विषाद और क्लेशही का कारण होती है वैसे ही कला के क्षेत्र में निस्सार, तत्वहीन मानसिक सृष्टियों से भी किसी कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। यदि हमसे पूछा जाय कि देवियाँ किसका अनुसरण करें तो हम तो यही निवेदन करेंगे कि मीराँ के चरण-चिन्ह ही उनके पथ-प्रदर्शक होंगे और यदि मीराँ की शक्ति उनके पास न हो, तो वे श्रीप्रतापकुँवरि, श्रीगिरिराजकुँवरि, श्रीराजरानीदेवी, श्रीसुभद्राकुमारी चौहान और श्रीमहादेवी वर्म्मा ही के दिखाये पथ पर चलने का उद्योग करें।

देवियों की रचना का मान-दण्ड ऊँचा होने से एक बहुत बड़ा लाभ यह होगा कि पुरुष-कवियों की रचनाओं में से भी अप्रकृत भावुकता का लोप होने लगेगा, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि समाज में नारी और पुरुष के सार्वजनिक निरापद सम्मिलन का जो आधार सहस्रों वर्षों से नष्ट हो गया है और जिसको प्रतिष्ठा राजनैतिक क्षेत्र में करने का एक क्षीण उद्योग किया जा रहा है वह साहित्यिक क्षेत्र में स्थापित होकर धीरे-धीरे सम्पूर्ण समाज को प्रकृत विकास की ओर अग्रसर करेगा।

—समाप्त—

